इकाई 1. मनोविज्ञान की प्रकृति एवं लक्ष्य (Nature and Goals of Psychology)

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 मनोविज्ञान की परिभाषा
1.4 मनोविज्ञान का लक्ष्य
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

मनोविज्ञान एक नवीन विषय है। इसका इतिहास लगभग 130 वर्ष पुराना है। जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में इसकी पहली प्रयोगशाला स्थापित हुई। तब से अब तक यह अनेकों पड़ावों को पार करता हुआ अपनी अनेक शाखाएँ विकसित कर चुका है। इसके लक्ष्य निर्धारित किए जा चुके हैं विषय-विस्तार या क्षेत्र निश्चित किया जा चुका है और अध्ययन की नई-नई विधियाँ विकसित की जा चुकी है।

प्रस्तुत इकाई में आप मनोविज्ञान की परिभाषा से अवगत हो सकेंगे, इसके लक्ष्य को जान सकेंगे,

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि आप-

- मनोविज्ञान की विषय-वस्तु को समझ सकें एवं इसकी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण कर सकें।
- मनोविज्ञान का लक्ष्य निर्धारित कर सकें।

1.3 मनोविज्ञान की परिभाषा

मनोविज्ञान का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। सन् 1879 ईसवी की घटना है। जर्मनी के एक विद्वान विल्हेम वुण्ट ने वहीं के लिपजिंग विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान की पहली प्रयोगशाला स्थापित की। यही प्रयोगशाला मनोविज्ञान की जन्मस्थली कही जाती है और विल्हेम वुण्ट को मनोविज्ञान का जनक माना जाता है।

तो एक प्रश्न उठता है कि क्या 1879 ई0 के पूर्व मनोविज्ञान नहीं था? इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान का इतिहास' पुस्तक के रचनाकार बोरिंग लिखते है कि ''वुण्ट के पहले मनोविज्ञान तो बहुत था, पर वह दर्शनशास्त्र में समाहित था''। यदि हम प्राचीन दार्शनिक विचारों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि ईसा के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिकों ने मनुष्य के अनुभवों और व्यवहारों की व्याख्या 'आत्मा' के आधार पर की। उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो, अरस्तू आदि के विचारों में मनोविज्ञान की झलक मिलती है।

प्लेटों ने विचारों के साथ मन का तादात्म्य स्थापित किया। विचारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि विचार अभौतिक होते हैं तथा भौतिक शरीर से अलग उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। यानी, प्लेटों के अनुसार, शरीर और मन का समानान्तर अस्तित्व है, ये दोनों एक-दूसरे से अलग है।

अरस्तू ने शरीर और विचारों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि विचारों का शरीर से अलग कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, बल्कि विचार शरीर के ही कार्य-मात्र है। अरस्तू के अनुसार, विचार की उत्पत्ति प्राणी पर वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप होती है। वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाएँ ज्ञानेंद्रियों को प्रभावित करती है और यह प्रभाव मनुष्य के हृदय तक पहुँचकर विचारों की सृष्टि करता है। यानी, हृदय पर पड़े हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप ही विचार उत्पन्न होते हैं।

स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत रहते हुए भी मनेाविज्ञान को यूनानी दार्शनिकों ने स्वीकार किया तथा इसे आत्मा का विवेचन करने वाला विषय माना। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे ने प्राणी की अनुभूति और उसके व्यवहार की व्याख्या स्नायुमण्डल(Nervous system), ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) तथा मांस-पेशियों की क्रियाओं के आधार पर की। उन्होंने बताया कि प्राणी एक ऐसी जटिल यन्त्र-रचना है जो प्रकाश आदि बाह्य भौतिक उत्तेजनाओं से ही क्रियाशील हो उठता है। उसमें क्रियाशीलता लाने के लिए किसी अभौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। डेकार्टे ने स्नायुमण्डल(Nervous system) के आधार पर अनुभूति और व्यवहार की व्याख्या करते हुए मनुष्य में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया था।

कुल मिलाकर, डेकार्टे ने मनोविज्ञान को आनुभविका विज्ञान बनाने की कोशिश की। उन्होंने भी मन तथा शरीर को एक-दूसरे से भिन्न माना, परन्तु यह बताया कि इन दोनों का पारस्परिक प्रभाव मस्तिष्क के एक खास बिन्दु पर पड़ता है जिसे 'पीनियल ग्रन्थि' (Pineal gland)कहते हैं।

मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध पर ब्रिटिश दार्शनिक लॉक ने भी काफी प्रकाश डाला और अपने साहचर्यवादी विचार में यह स्पष्ट किया कि मन बाह्य वस्तुओं से विचार ग्रहण करता है। लॉक के

अनुसार, जन्म के समय बच्चे का मस्तिष्क एक 'सादे कागज' के समान होता है। सभी प्रकार के ज्ञान या विचार साहचर्य द्वारा प्राप्त होते हैं।

मनोविज्ञान में वुण्ट के विचारों के आगमन के पूर्व तक इसे कभी तो 'आत्मा का विज्ञान' तथा कभी 'मन का विज्ञान' के रूप में ही परिभाषित किया जाता रहा। परन्तु वुण्ट ने इसे एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में स्थापित किया और इसे प्रयोगात्मक स्वरूप प्रदान किया। वुण्ट के अनुसार ''मनोविज्ञान एक स्वतंत्र प्रयोगात्मक मनोविज्ञान है जिसमें तात्कालिक अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन किया जाता है।'' इसी आधार पर वुण्ट ने मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा कि ''मनोविज्ञान चेतन अनुभूति का विज्ञान है''। वुण्ट का समर्थन करते हुए विलियम जेम्स ने भी कहा कि ''मनोविज्ञान की सर्वोत्तम परिभाषा यह है कि यह चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन और व्याख्या कर सकता है"।

वुण्ट की परिभाषा को मनोविज्ञान की संरचनावादी परिभाषा कहा जाता है। अपने संरचनावादी मनोविज्ञान में वुण्ट ने मनोविज्ञान को न सिर्फ चेतना का विज्ञान माना वरन् चेतन अनुभवों के विश्लेषण को मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य माना तथा अन्तः निरीक्षण को चेतना के अध्ययन की विधि। फिर भी, वुण्ट की परिभाषा में कुछ कमियाँ रह गई जो निम्नवत् है-

1. वुण्ट ने जिस चेतन अनुभूति को मनोविज्ञान की विषय वस्तु माना उसका स्वरूप इतना चंचल होता है कि वह हर समय बदलता रहता है, फिर इसका वैज्ञानिक अध्ययन कैसे संभव है?
2. चेतन अनुभूति के अध्ययन की विधि अन्तः निरीक्षण बतायी गयी जो केवल सामान्य व्यस्क मानव प्राणी तक ही सीमित है। इसका उपयोग पशु-पक्षी, असामान्य व्यक्ति, बच्चे आदि नहीं कर सकते । अतः यह परिभाषा मनोविज्ञान के क्षेत्र को सीमित करने वाली बतायी गयी।
3. अचेतन और अवचेनत मन की खोज से स्पष्ट हो गया कि मनोविज्ञान में केवल चेतना का अध्ययन ही काफी नहीं है, बल्कि अचेतन और अवचेतन के अध्ययन को भी इसमें शामिल कर इसके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।
4. चेतन अनुभव के आत्मगत होने के कारण इसका अध्ययन सिर्फ अन्तः निरीक्षण से ही सम्भव था। वाह्य निरीक्षण से नहीं और इसके लिए एक ही व्यक्ति को प्रयोगकर्ता और प्रयोज्य दोनों की ही भूमिका का निर्वहन करना होता था जो कि वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल नहीं था।

वुण्ट के विचारों और उनके संरचनावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध एक नई विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे व्यवहारवाद के नाम से जाना गया। इस विचारधारा के प्रणेता थे जे0बी0 वाटसन। वाटसन ने मनोविज्ञान की विषय-वस्तु व्यवहार माना और इसकी परिभाषा ''व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान'' के रूप में दी । उन्होंने स्पष्ट किया कि व्यवहार का स्वरूप वस्तुगत होता है तथा इसे न सिर्फ देखा और दिखाया जा सकता है, बल्कि इसे मापा भी जा सकता है। व्यवहार बाह्य भी होता है,

आन्तरिक भी, यानी, यह प्रकट और अप्रकट दोनों तरह का होता है। बाह्य या प्रकट व्यवहार को खुली नजरों से देखा जा सकता है, जैसे-गाना, बजाना, दौड़ना, हँसना, रोना आदि। आन्तरिक या अप्रकट व्यवहार को खुली नजरों से तो नहीं देखा जा सकता, परन्तु इन्हें वस्तुगत रूप से मापा जा सकता है। हृदय की धड़कन, रक्त,-चाप, संवेदन, भाव, समायोजन, चिन्ता आदि को बाहर से तो नहीं देखा जा सकता , परन्तु उपयुक्त मापनी के सहारे इसे मापा जा सकता है।

प्राणी का प्रत्येक अनुभव और व्यवहार वातावरण से संबंधित रहता है। प्राणी वातावरण की विभिन्न परिस्थितियों का मानसिक रूप से अनुभव करता है और तदनुसार ही वह प्रतिक्रिया करता है। उदाहरण के लिए, किसी भयावह स्थिति के प्रति व्यक्ति में भय उत्पन्न होता है। यहाँ भयावह स्थिति वातावरण की एक परिस्थिति है जिसके प्रति प्राणी में भय की अनुभूति होती है और वह काँपने, चिल्लाने या भागने की क्रिया (व्यवहार) करता है। इसी प्रकार प्राणी का प्रत्येक व्यवहार वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित करने के लिए होता है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के अतंर्गत प्राणी के व्यवहार एवं अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन वातावरण के साथ संबद्ध करके किया जाता है इसलिए मनोविज्ञान को आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'व्यक्ति के समायोजन का विज्ञान' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

मनोविज्ञान की परिभाषा के संदर्भ में अभी तक जो विवेचन किया गया उससे स्पष्ट है कि-

1. मनोविज्ञान अनुभूति एवं व्यवहार दोनों का अध्ययन करता है।
2. मनोविज्ञान अनुभूति एवं व्यवहार का अध्ययन वातावरण के साथ समायोजन की दृष्टि से करता है।
3. चूँकि यह प्राणियों के व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन करता है, अतः सभी प्रकार के जीवित प्राणी, पशु और मनुष्य इसके अध्ययन -क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। अर्थात, मनोविज्ञान में पशु-पक्षी और मनुष्य दोनो का अध्ययन किया जाता है।

जैसे कि हम लोग चर्चा कर चुके हैं कि प्राणी की प्रत्येक क्रिया (व्यवहार एवं अनुभूति) वातावरण के साथ अभियोजन के लिए होती है इसलिए हाल के मनोवैज्ञानिकों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है- ''मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान है जो प्राणी और वातावरण के बीच सम्पूर्ण अभियोजन से संबद्ध अनुभूतियों (sensations) और व्यवहारों का अध्ययन करता है।''

इस परिभाषा में एक नई बात जोड़ी गई है- अभियोजन से संबंधित 'अनुभूति और व्यवहार'। यह सही भी प्रतीत होता है, क्योंकि मनोविज्ञान व्यक्ति की क्रियाओं (मानसिक एवं शारीरिक) का अध्ययन वातावरण से पृथक रूप में नहीं करता । कोई भी मनुष्य 'शून्य' में नहीं रहता। यह चारों ओर से भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से घिरा रहता है। ये परिस्थितियाँ अत्यन्त जटिल स्वरूप की होती है तथा क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है। इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप ही

मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रतिक्रिया करता है ताकि इन परिवर्तनशील अवस्थाओं के साथ 'अभियोजन' स्थापित हो सके। इन्हीं अवस्थाओं को वातावरण कहते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर दो भागों- 'आन्तरिक' एवं 'बाह्य' में बाँटा जाता है। 'आन्तरिक वातावरण' व्यक्ति के जैविक अवयवों (Biological components)की अवस्था को कहते हैं, जैसे रक्त रसायन में परिवर्तन होने पर भूख की अवस्था का उत्पन्न होना। इसी प्रकार प्यास की अवस्था, शारीरिक तापमान में परिवर्तन, विभिन्न ग्रंथियों के कार्यों में परिवर्तन आदि आंतरिक वातावरण के उदाहरण है। बाह्य वातावरण व्यक्ति के बाहर की अवस्थाओं को कहते हैं, जैसे- मौसम (धूप, वर्षा, जाड़ा), प्राकृतिक वस्तुएँ एवं दूसरे जीवित प्राणी (पशु, पक्षी तथा अन्य व्यक्ति)। मनुष्य एवं अन्य प्राणी जब तक जीवित रहते हैं, वे सदा इन बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों से प्राप्त उत्तेजनाओं को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ वातावरण के संपर्क को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ वातावरण के संपर्क से प्राप्त उत्तेजनाओं के प्रति हुआ करती है। इसे 'सूत्र रूप' में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

अर्थात् प्राणी में अनुक्रिया की उत्पत्ति वातावरण की उत्तेजक परिस्थितियों एवं प्राणी की सम्मिलित क्रिया के फलस्वरूप होती है। इस सूत्र को अच्छी तरह समझने हेतु एक उदाहरण लें। मान लें, दरवाजे पर एक घंटी बजाती है। यह घंटी उत्तेजक वस्तु है जिससे उत्पन्न आवाज की तरंगों को व्यक्ति कानों द्वारा गहण करता है। अतः आवाज की तरंगें उत्तेजनाएँ है जिनके फलस्वरूप मानसिक अनुक्रिया के रूप में श्रवण संवेदना होती है और तब प्राणी दरवाजे तक जाने की अनुक्रिया करता है। वातावरण से उत्तेजना को प्राणी द्वारा प्राप्त करने, उन्हें मानसिक रूप से संगठित करने और तब उनके प्रति किसी प्रकार की अनुक्रिया करने की इस संपूर्ण प्रणाली को ही 'उत्तेजना-प्राणी अनुक्रिया कहते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'उत्तेजना-प्राणी अनुक्रिया का उपर्युक्त सूत्र पर्याप्त नहीं है। इनकी राय में इस सूत्र में एक और पद का जोड़ा जाना अनिवार्य है। उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया(Stimulus-Organism-Response) सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी उत्तेजना के प्रति प्राणी जैसे ही कोई अनुक्रिया करता है, प्राणी का व्यवहार वहीं समाप्त हो जाता है, लेकिन वस्तुतः ऐसे होता नहीं है। किसी उत्तेजना के प्रति प्राणी कोई अनुक्रिया करता है तो उसमें उस अनुक्रिया की भी संवेदना होती है, जो पुनः एक नई उत्तेजना का काम करती है और जिसके प्रति भी प्राणी में अनुक्रिया होती है। इसे 'सांवेदिक फीडबैक' ('Sensory Feedback')की संज्ञा दी जाती है। अतः, उपर्युक्त सूत्र में 'सांवेदिक फीडबैक' ('Sensory Feedback')को शामिल किया जाना आवश्यक है। सांवेदिक फीडबैक को शामिल करने पर इस सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया सांवेदिक फीडबैक(Stimulus-Organism-Response-sensory feedback)।

इस सूत्र से यह तात्पर्य निकता है कि वातावरण से प्राप्त उत्तेजनाओं के फलस्वरूप प्राणी के भीतर संगठनात्मक प्रक्रिया होती है जिससे वह प्रतिक्रिया या अनुक्रिया करता है। पुनः इस प्रतिक्रिया की भी संवेदनात्मक अनुभूति होती है जो 'फीडबैक' का काम करती है।, अर्थात् एक नई उत्तेजना मिलती है और प्राणी इस नई उत्तेजना के प्रति भी अनुक्रिया करता है। यही नई उत्तेजना 'सांवेदिक फीडबैक कहलाती है। इसे और अधिक स्पष्ट करने हेतु हम एक उदाहरण का सहारा लें - मान ले, आप एक मोटरगाड़ी चला रहे हैं। आपको पीछे से आती हुई एक दूसरी गाड़ी के हार्न की आवाज सुनाई पड़ती है। यहाँ हार्न की आवाज उत्तेजना है और प्राणी अपने अनुभव के आधार पर पार्श्वदर्शी ऐनक में देखने की क्रिया करता है। ऐनक में देखने पर उसे मालूम होता है कि कोई गाड़ी पीछे से उसकी गाड़ी से काफी निकट पहुँच चुकी है। प्राणी का यह अनुभव ही 'सांवेदिक फीडबैक' ('Sensory Feedback')के रूप में एक नई उत्तेजना का काम करती है, जिसके फलस्वरूप वह एक्सिलेटर को जोर से दबाने की प्रतिक्रिया करता है और अपनी गाड़ी को जल्दी से आगे बढ़ा लेता है। स्पष्ट है कि हॉर्न की आवाज मिलने पर प्राणी की जो पहली प्रतिक्रिया हुई (ऐनक में देखने की क्रिया) उसका व्यवहार वहीं समाप्त नहीं हुआ, बल्कि ऐनक में पीछा करती हुई गाड़ी को देखने के फलस्वरूप 'सांवेदिक फीडबैक' ('Sensory Feedback')के रूप में नई उत्तेजना मिलती है जिससे एक दूसरी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राणी की अनुक्रियाओं का क्या प्रयोजन है? प्राणी वातावरण में समुचित अभियोजन के उद्देश्य से ही विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है, जैसे-मनुष्य जाड़े के मौसम में गर्म कपड़े पहनता है, भूख लगने पर भोजन करता है, प्यास का अनुभव होने पर पानी पीता है इत्यादि। इन सभी क्रियाओं का लक्ष्य वातावरण की विशिष्ट परिस्थितियों के साथ अभियोजन करता होता है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि प्रत्येक जीवधारी में अभियोजन करने की क्षमता पाई जाती है, लेकिन विकास की सीढ़ी पर जो प्राणी जितना ही ऊपर पहुँचा रहता है, अभियोजन की क्षमता उसमें उतनी ही अधिक रहतीहै। यही कारण है कि मुनष्य जो विकास की सीढ़ी पर सबसे ऊपर है, में यह गुण सबसे अधिक होता है और वह जटिल-से जटिल परिस्थितियों में भी अभियोजित होने की क्षमता रखता है।

वातावरण के साथ अभियोजन करने से हमारा अभिप्राय यह है कि वातावरण में होने वाले परिवर्तनों अनुरूप मनुष्य के व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) में परिवर्तन का होना।

प्राणी को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि जैसा उसका वातावरण हो, उसी के अनुसार वह अपने व्यवहारों में परिवर्तन ला सके। यह परिवर्तन वातावरण के प्रति उसके द्वारा की गई समुचित प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होगा। उदाहरणस्वरूप- बारिश के समय सड़क पर चल रहे राही के पास यदि छाता है तो वह उसे खोलकर बारिश से बचने का प्रयास करेगा। ऐसा नहीं करने पर

वर्षा का पानी उस पर असर करेगा और वह बीमार हो जाएगा, जो उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यहाँ बारिश से बचने के लिए छाता लगाने की क्रिया वातावरण से अपने को अभियोजित करने की क्रिया कही जाएगी। इसी प्रकार , व्यक्ति अपने घर पर जैसा व्यवहार करता है, मित्रों या अपने कार्यालय के सहयोगियों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता। तात्पर्य यह है कि वातावरण की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के साथ अभियोजन करने के लिए प्राणियों को अपनी प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने के रूपों में भी परिवर्तन या तब्दीली लानी पड़ती है।

मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा से एक बात और स्पष्ट होती है कि मनोविज्ञान एक जैव सामाजिक विज्ञान है। हम यह देख चुके हैं कि मनोविज्ञान मनुष्य का अध्ययन उसे वातावरण से संबद्ध करके करता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह एक जैविक इकाई है, अर्थात् मनुष्य की संरचना जैविक अवयवों (Biological components)से हुई और इन जैविक अवयवों (Biological components)के सम्मिलित रूप में कार्यशील होने के फलस्वरूप ही मुनष्य अपनी जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रतिक्रियाएँ करता है। अर्थात्, मनुष्य अपनी जैविक आवश्यकताओं, जैसे-आत्मस्थापन, सामुदायिकता आदि की पूर्ति करके अपने को आंतरिक एवं बाह्य वातावरण में अभियोजित करने का प्रयास करता है। अभियोजन की इस प्रक्रिया में वह आंतरिक रूप से वातावरण की जटिल परिस्थितियों की कठिनाइयों पर विजय पाने का प्रयास करता है। इस प्रकार, अभियोजन के दो प्रमुख अंग होते हैं-

क- निर्वाह के अंग

ख- अभियोजन के अंग

निर्वाह के अंगों के अंतर्गत सामान्य विकास एवं स्वास्थ्य से संबंधित अवयव आते हैं, जैसे- रक्तकोशिकाएँ, हृदय, फेफड़ा, पाचनग्रंथियाँ, जिगर (Blood cells, heart, lungs, digestive glands, liver), इत्यादि । अभियोजन के अंगों में मांसपेशियों ग्रंथियों, अस्थिपंजर इत्यादि को शामिल किया जाता है। इन दोनों प्रकार के अभियोजन-अवयवों की क्रियाओं का समन्वय अन्तः स्रावी ग्रंथियों की संचार-प्रणाली एवं केन्दीय स्नायुमंडल की सहायता से होता है। इस प्रकार, मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन करने के क्रम में अभियोजन के इन अंगों का अध्ययन भी आवश्यक होता है, अतः यह एक प्रकार का जैविक विज्ञान है।

मुनष्य केवल जैविक प्राणी नहीं है एक सामाजिक प्राणी भी हैं। किसी भी मानव को उसके समाज से पृथक नहीं किया जा सकता है। मुनष्य समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है और जब तक जीवित रहता है वह दूसरे लोगों से घिरा रहता है। वह अपनी शारीरिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी समाज द्वारा ही करता है।

इस प्रकार, मनुष्य अपने को वातावरण में अभियोजित करने के सिलसिले में समाज के दूसरे लोगों को अपने व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) से प्रभावित करता है तथा स्वयं भी दूसरे से प्रभावित होता है। अतएव, मनोविज्ञान जब मुनष्य के व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन करता है तब वह उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अभियोजन के विषय में भी अध्ययन करता है। इसलिए मनोविज्ञान को जैव सामाजिक विज्ञान की संज्ञा दी जाती है।

मनोविज्ञान के स्वरूप एवं परिभाषा के संबंध में अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह एक 'प्रगतिशील विज्ञान' है। अतः हमें यह नहीं समझना चाहिए कि मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा ही सर्वोत्तम है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन प्रगति हो रहीं है। अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आगे आने वाले वर्षों में मनोविज्ञान की कई और नई परिभाषायें हमारे सामने आ जाए। यदि हम मनोविज्ञान के क्रमशः विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि आरंभ में मनोविज्ञान की विषय-वस्तु 'आत्मा' अब बिल्कुल की बदल गयी है। आज हम 'आत्मा' की जगह प्राणी की संपूर्ण क्रियाओं का अध्ययन करने लगे हैं। प्राणी की क्रियाएँ अत्यन्त ही विस्तृत है। इसी के फलस्वरूप आज का मनोविज्ञान कई शाखाओं में बँट गया।

1.4 मनोविज्ञान का लक्ष्य

मनोविज्ञान एक विषय के रूप में अभी लगभग 130 वर्ष पुराना है। जब 1879 में इसे एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में स्थापित किया गया तो इसके संस्थापक प्रोफेसर विल्हेम वुण्ट ने इसे चेतना का अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया। मनोविज्ञान का लक्ष्य निर्धारित करते हुए विल्हेम वुण्ट ने कहा कि मनोविज्ञान के तीन लक्ष्य होंगे-

1. चेतन अनुभूति का अध्ययन व विश्लेषण (Study and analysis of conscious experience)
2. चेतना के निर्णायक तत्वों का पता लगाना (Finding the defining elements of consciousness and) तथा
3. निर्णायक तत्वों (संवेदन, भाव व बिम्ब) को मिलाने वाले बल (साहचर्य) की खोज।(Discovery of the force (association) that unites the decisive elements (sensation, emotion and image)

परन्तु, समय के साथ मनोविज्ञान का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया और आज का मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन अनुभव के माध्यम से करने वाला विज्ञान है। अन्य विज्ञानों की तरह इसका भी लक्ष्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों को निष्पक्ष रूप से एकत्र करना एवं उन्हें क्रमबद्ध ढंग से व्यवस्थित करना, इन तथ्यों का विश्लेषण कर सामान्य नियमों का प्रतिपादन करना तथा सामान्य नियमों द्वारा अध्ययन-विषय

को स्पष्ट करना है। इसके अतिरिक्त, व्यवहार के अध्ययन एवं इसे प्रभावित करने वाले कारकों के परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान मूलतः अपने दो लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है-

1. व्यवहार को समझने का तथा
2. व्यवहार की भविष्यवाणी (पूर्व कथन) करने का

हालांकि, तथ्यों की समझ और पूर्वकथन लगभग सभी विज्ञानों का लक्ष्य होता है, परन्तु अन्य भौतिक विज्ञानों की तरह मनोविज्ञान की समस्याएँ और मनोवैज्ञानिक तथ्यों की समझ थोड़ी भिन्न होती है क्योंकि मनोविज्ञान एक जैव सामाजिक विज्ञान है। इसकी अपनी सीमाएँ हैं। फिर भी, आज मनोविज्ञान उन तकनीकों की खोज में लगा है जो मानव व्यवहार के नियंत्रण एवं नियम में सहायक हो, जो व्यक्ति की मानसिक एवं सांवेगिक समस्याओं का समाधान कर सके तथा जो व्यक्ति के भीतर के अनावश्यक भय, यौन-सम्बन्धों से उत्पन्न असंतुष्टि, मदिरा-सेवन से मुक्ति आदि में उसकी वांछित मदद करे सके। परन्तु, व्यवहार का नियंत्रण मनोविज्ञान का तीसरा लक्ष्य होना चाहिए या नहीं- इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों की मिश्रित राय है क्योंकि एक तो मानव व्यवहार वैसे ही विभिन्न प्रकार के नियंत्रण में विकसित व प्रस्फुटित होता है - पारिवारिक नियम के अधीन, स्कूल के नियम के अधीन, राष्ट्र के संविधान के परिप्रेक्ष्य में, विभिन्न धर्मों के परिप्रेक्ष्य में आदि-आदि, दूसरे, नैतिक मुद्दे भी व्यवहार के नियंत्रण के मनोवैज्ञानिक तरीके में विभिन्न प्रकार के प्रश्न खड़ा करते हैं। फिर भी, एक वैज्ञानिक विषय के रूप में मनोविज्ञान का लक्ष्य मानव व्यवहार को समझना, उसका पूर्वकथन करना, अनावश्यक व्यवहारों का नियंत्रण करना तथा मानव की मानसिक एवं सांवेगिक दशा में सुधार लाना है।

1.5 सारांश

- मनोविज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में सन् 1879 ई0 में जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में स्थापित हुआ। विल्हेम वुण्ट को इसका जनक माना जाता है।
- मनोविज्ञान की आधुनिकतम परिभाषा इस प्रकार है- ''मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान है जो वातावरण में प्राणी के सम्पूर्ण अभियोजन से सम्बद्ध अनुभूतियों (sensations) और व्यवहारों का अध्ययन करता है। ''
- मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय ''उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया(Stimulus-Organism-Response) से सम्बद्ध प्रणाली है।
- मनोविज्ञान का लक्ष्य व्यवहार को समझना तथा उसके सम्बन्ध में पूर्व कथन करना है।

1.8 शब्दावली

- **मनोविज्ञान**: प्राणियों के व्यवहार और अनुभूति का अध्ययन वातावरण के परिप्रेक्ष्य में करने वाला विज्ञान कहलाता है।
- **चेतन अनुभूति:** किसी उत्तेजना के सम्बन्ध में व्यक्ति की तात्कालिक अनुभूति को चेतन अनुभूति कहते हैं जो संवेदन, भाव और बिम्ब का योग होती है।
- **जैव-सामाजिक विज्ञान**: यह विज्ञान जो व्यक्ति के जैविक अवयवों (Biological components)द्वारा होने वाले सभी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में करता है, जैव सामाजिक विज्ञान कहलाता है।

1.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. मनोविज्ञान को 'चेतन अनुभूति का विज्ञान' किसने कहा?

   1. फ्रायड ब) वुण्ट स) वाटसन द) र्नडाइक

2. मनोविज्ञान की परिभाषा से सम्बन्धित वाटसन के विचार को निम्नलिखित में से किस 'वाद' के अन्तर्गत रखा जाता है-

   अ) संरचनावाद ब) प्रकार्यवाद

   स) व्यवहारवाद द) गेस्टाल्टवाद

उत्तर: 1) ब 2) स

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान - डॉ0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास।
- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोर्ट ब्रेस, लंदन।
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन।
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलेमान एवं खान- शुक्ला बुक डिपो, पटना।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मनोविज्ञान की परिभाषाओं पर प्रकाश डालते हुए इसकी सर्वोत्तम परिभाषा बतायें।
2. मनोविज्ञान के स्वरूप एवं विषय-वस्तु का वर्णन करें।
3. मनोविज्ञान के लक्ष्य का उल्लेख करें।
4. मनोविज्ञान की परिभाषा दें। इसके क्षेत्र की विवेचना करें।

इकाई-2 मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र (Scope of Psychology)

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मनोविज्ञान का क्षेत्र
2.4 मनोविज्ञान की शाखाएँ
2.4.1 सैद्धान्तिक मनोविज्ञान
2.4.2 व्यावहारिक मनोविज्ञान
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप मनोविज्ञान की परिभाषा एवं लक्ष्यों से अवगत हुए , प्रस्तुत इकाई में आप मनोविज्ञान के विषय-विस्तार या क्षेत्र को समझ सकेंगे। इसके अतिरिक्त, इस इकाई में मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन किया गया है ताकि आप इन शाखाओं की विषय-वस्तु को समझाने में सक्षम हो सकें।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि आप-

- मनोविज्ञान के क्षेत्र को रेखांकित कर सकें।
- मनोविज्ञान की शाखाओं के बारे में जान सकेंगे|

2.3 मनोविज्ञान का क्षेत्र

प्रत्येक विज्ञान का अपना एक निश्चित लक्ष्य होता है। मनोविज्ञान के 'स्वरूप' एवं उसकी परिभाषा से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य मनुष्य की अनुभूतियों (sensations) तथा व्यवहारों का उचित अध्ययन कर उन्हें सही रूप में समझना और उनका नियंत्रण करना है। मनोविज्ञान की सहायता से हम मनुष्यों के बारे में सही-सही ज्ञान प्राप्त कर न सिर्फ दूसरों को ही समझने की कोशिश करने हैं बल्कि अपने-आपको भी समझने में समर्थ होते हैं। यानी, मनोविज्ञान की सहायता से हम स्वयं के एवं

दूसरों के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं, तथा अपने और दूसरों के व्यवहारों को आवश्यकतानुसार नियंत्रित करने में समर्थ होते हैं। इस नियंत्रण के फलस्वरूप हमें वातावरण की जटिल परिस्थितियों से अनुकूल अभियोजन स्थापित करने में पर्याप्त मदद मिलती है, जिससे व्यक्ति का जीवन सुखी हो जाता है।

मनोविज्ञान अपने उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु मानव के व्यवहारों से संबंधित समस्याओं एवं तथ्यों की खोज करने की दशा में अग्रसर है तथा इस दिशा में मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का क्षेत्र दिनों -दिन बढ़ता जा रहा है। जीवन के विविध पक्षों से लेकर सार्वभौम अभियोजन तक के विभिन्न तथ्यों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इसका विषय बन गया है। इसी पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान के कुछ प्रमुख क्षेत्रों का उल्लेख यहाँ किया जाएगा।

1. **मानव के सफल अभियोजन में सहायक-** मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र मानव-जीवन के सफल अभियोजन से संबंद्ध तथ्यों का अध्ययन करने से है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा हमें व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफलतापूर्वक अभियोजन करने से संबद्ध ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता मिलती है तथा इस तरह से प्राप्त ज्ञान के आधार पर मनुष्य अपने को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अभियोजित करने में समर्थ होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का ही यह परिणाम है कि आज हम व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अभियोजन में होने वाली कठिनाइयों एवं उनके निराकरण के उपायों के बारे में जान पाए हैं तथा इनका उपयोग कर मानव- जीवन को अभियोजन योग्य बनाने में समर्थ हुए हैं। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान का भंडार इतना विशाल हो गया है कि इनके आधार पर आजकल मनोविज्ञान की अलग शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं, जिन्हें क्रमशः असामान्य मनोविज्ञान एवं समाज मनोविज्ञान कहते हैं। असामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत असामान्यता के स्वरूप, कारण एवं उपचार के उपायों का अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार, व्यक्ति के अभियोजन-संबंधी कठिनाइयों का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन कर उन्हें पुनः अभियोजन के योग्य बनाया जाना संभव हो सका है।

समाज मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों एवं व्यवहारों का विश्लेषण किया जाता है तथा व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाने और उनके पारस्परिक संबंधों को अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है। इस क्रम में मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के बीच के संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं।

2. **बालकों के विकासात्मक पहलुओं के अध्ययन एवं मार्गदर्शन में सहायक-** मनोविज्ञान का एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र 'बालकों' के विकासात्मक पहलुओं का अध्ययन करने से है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की मदद से हम बालकों के विकास में उत्पन्न कठिनाइयों या समस्याओं के कारणों का पता लगाते हैं तथा उचित विकास का मार्गदर्शन भी करते हैं। मनोवैज्ञानिक बालकों के विकास की प्रक्रिया

का गर्भावस्था से लेकर परिपक्वता की अवस्था तक अध्ययन करते हैं तथा इस संबंध में भविष्यवाणी करना, उनके व्यवहारों को उचित विकास हेतु नियंत्रित करना एवं सही मार्गदर्शन देना उनका मूल उद्देश्य होता है।

3. **शिक्षा, व्यापार एवं अपराध के क्षेत्र में उपयोगी-** आजकल मनोविज्ञान का प्रवेश शिक्षा, व्यापार कानून एवं अपराध इत्यादि क्षेत्रों में भी हो चुका है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक इन विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करने एवं उनके समाधान के उपायों की खोज करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त कर पाए हैं। शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग कर आजकल बालकों को उनकी योग्यता एवं अभिरूचि के अनुसार शिक्षा देने का व्यवस्था होने लगी है तथा विभिन्न प्रकार की मानसिक त्रुटियों से पीड़ित बालकों के लिए उचित शिक्षा दी जाने लगी हैं इससे शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने में काफी सहायता मिली है।

4. **उद्योग-धंधों में-** मनोविज्ञान का उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के फलस्वरूप श्रम की बरबादी को रोकने में काफी सहायता मिली है। साथ- ही साथ यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन का ही परिणाम है कि आजकल कार्य के अनुसार व्यक्ति तथा व्यक्ति के अनुसार कार्य का चुनाव किया जाने लगा है। इससे श्रमिक एवं मालिक दोनों लाभान्वित हुए हैं। इनके अतिरिक्त औद्योगिक शांति की स्थापना, दुर्घटनाओं के मनोवैज्ञानिक कारणों का पता लगाकर नियंत्रित करने, मजदूरों की कार्यकुशलता को बढ़ाने एवं अन्य औद्योगिक समस्याओं के समाधान में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से बहुत अधिक मदद मिलती है।

5. **जीवन के अन्य क्षेत्रों में-** आज मनोविज्ञान का प्रवेश अभियंत्रण, चिकित्सा, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, युद्ध इत्यादि क्षेत्रों में भी हो चुका है तथा इन सभी क्षेत्रो में नए-नए शोधकार्य होने लगे हैं। इतना ही नहीं, आर्मी, क्रीड़ा, मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में मनोविज्ञान नया मुकाम हासिल कर चुका है। प्रशासन तथा प्रबन्धन का तो आधार ही है मनोविज्ञान। मनोविज्ञान के क्षेत्र के संबंध में उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। मानव-जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो पा रहा हो अथवा इसका उपयोग न किया जाता हो। हालाँकि, मनोविज्ञान एक अत्यंत ही 'युवा विज्ञान' है, फिर भी इसका प्रवेश हमारे जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में हो चुका है तथा विभिन्न क्षेत्रों में नए-नए अनुसंधान हो रहे हैं। । यही कारण है कि अब मनोविज्ञान की कई अलग शाखाएँ विकसित हो गई है। ये शाखाएँ सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में मनोविज्ञान के विस्तार को प्रदर्शित करती है।

2.4 मनोविज्ञान की शाखाएँ

जैसे-जैसे मनोविज्ञान आत्मा के अध्ययन से व्यवहार के अध्ययन की ओर बढ़ता गया, इसका क्षेत्र व्यापक होता गया । आज इसके अंतर्गत असामान्य व्यक्तियों, बालकों एवं किशोरों की मानसिक

एवं शारीरिक प्रतिक्रियाओं का भी अध्ययन किया जाने लगा है। इतना ही नहीं, मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं का भी अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है। साथ-ही- साथ मनुष्यों के जीवन से संबंधित भिन्न-भिन्न क्षेत्र, जैसे- चिकित्सा, शिक्षा, उद्योग एवं व्यवसाय, अपराध, प्रशासनिक व्यवस्था एवं प्रबंध, सामाजिक जीवन इत्यादि में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की होड़-सी लगी है।

विषय-विस्तार इतना हुआ है कि इसकी अनेक शाखाएँ विकसित हो गई हैं । सुविधा के दृष्टिकोण से मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है- (क) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान एवं (ख) व्यावहारिक मनोविज्ञान । इन दोनों की भी अपनी -अपनी शाखाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख शाखाओं का वर्णन हम आगे करेंगे।

2.4.1सैद्धान्तिक मनोविज्ञान: -

सैद्धान्तिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य प्रक्रियाओं से सम्बन्धित नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना तथा मनोवैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि करना है । इसके अन्तर्गत आने वाली मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं-

1. **सामान्य मनोविज्ञान-** 'सामान्य मनोविज्ञान' के अंतर्गत व्यक्ति की सामान्य क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान की इस शाखा द्वारा व्यक्तियों की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं की मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा खोज की जाती है तथा उनकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं विकास से संबंधित तथ्य संग्रह किए जाते हैं। इस सिलसिले में मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न मानसिक प्रक्रियाओं जैसे संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, अवधान, स्मरण तथा विस्मरण, चिन्तन, संवेग तथा भाव के साथ-साथ शिक्षण एवं अन्य शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। सामान्य मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य मानव-व्यवहार के संबंध में सामान्य नियमों का पता लगाना उन्हें समझना, नियंत्रित करना एवं भविष्यवाणी करना है। दूसरे शब्दों में मनोविज्ञान की इस शाखा के तीन मुख्य कार्य हैं-
   i.मानव-व्यवहारों को समझना,
   ii.मानव व्यवहारों को नियंत्रित करना तथा
   iii.मानव व्यवहारों की भविष्यवाणी करना।

अतः संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि सामान्य मनोविज्ञान मानव के सामान्य व्यवहारों के संबंध में मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

2. **शरीर-क्रिया मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान की इस शाखा के अंतर्गत प्राणी के क्रियातंत्र का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान मूल रूप से प्राणी की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। लेकिन, इन क्रियाओं को ठीक से समझने के लिए स्नायुमंडल, ग्राहक इंद्रियों एवं

भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन-रक्षा-संबंधी अवयवों की रचना एवं कार्यों का अध्ययन करना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, प्रकाश एवं ध्वनि की संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण को लें। इन मानसिक प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिए संबंधित ग्राहक इंद्रियों, जैसे -आँख एवं कान और स्नायुमंडल की बनावट एवं कार्यों का ज्ञान आवश्यक है। शारीरिक मनोविज्ञान में प्राणी की अनुभूतियों (sensations) एवं व्यवहारों के भिन्न-भिन्न अंगों की बनावट तथा उनके कार्यों का विशिष्ट अध्ययन किया जाता है।

3. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान- प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का ही एक अंग है। मनोविज्ञान की इस शाखा में प्रयोगात्मक विधि द्वारा व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य नियमों की खोज तथा उनकी सत्यता की जाँच की जाती है। सन् 1879 ई0 में वुण्ट द्वारा लिपजिंग विश्वविद्यालय में प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना के फलस्वरूप मनोविज्ञान प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ। फलतः दार्शनिकों की जगह वैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया और मनोविज्ञान अब प्रयोगों द्वारा प्राप्त तथ्यों का वस्तुपरक ढंग से अध्ययन करने वाला एक स्वतंत्र विज्ञान बन गया है। सच्चाई तो यह है कि बिना प्रयोगों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में प्राणी की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं के संबंध में पूर्वनिर्धारित एवं निश्चित अवस्थाओं में अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन नियंत्रित वातावरण में किया जाता है, ताकि विश्वसनीय एवं यथार्थ परिणाम प्राप्त किये जा सकें । इसमें यंत्रो एवं परिणात्मक रीतियों का भी उपयोग किया जाता है। इस प्रकार , प्रयोग द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर प्राणी की विभिन्न क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) से संबद्ध नियमों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते है कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का ही एक अंग है, जिसके द्वारा व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक विधि द्वारा नियं- त्रित वातावरण में निरीक्षण किया जाता है तथा उनसे संबद्ध नियमों की सत्यता की जाँच की जाती है।

4. बाल मनोविज्ञान या विकासात्मक मनोविज्ञान- बाल मनोविज्ञान गर्भावस्था से प्रौढ़ावस्था का अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से करता है। यह बालक के ज्ञानवाही एवं गतिवाही विकास, संवेगात्मक विकास, सामाजिक विकास, भाषा का विकास, खेल का विकास तथा बौद्धिक विकास इत्यादि का अध्ययन कर इनकी तुलना प्रौढ़ व्यक्ति से करता है तथा इनमें कैसे एवं क्यों भिन्नता होती है, इस पर प्रकाश डालता है। इसलिए बाल मनोविज्ञान को विकासात्मक मनोविज्ञान के नाम से भी पुकारा जाता है। आज इसके अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाने लगा है।

5. पशु मनोविज्ञान- डार्विन ने विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अमीबा जैसे छोटे जीव और मनुष्य दोनों विकास की सीढ़ी पर क्रमशः सबसे नीचे और सबसे ऊपर है। इनके बीच अविच्छिन्नता या निरंतरता पाई जाती है। इन दानों में अंतर केवल विकास की मात्रा का है। अतः मनुष्य के मन और शरीर की बनावट और क्रियाएँ पशुओं के मन और शरीर की बनावट एवं कार्यों के समान है। इनमें अन्तर केवल सरलता एवं जटिलता का है। निम्नकोटि के जीव 'सरल' होते हैं और उच्चकोटि के जीव 'जटिल'।

अतः पशुओं का अध्ययन करना मनुष्यों के अध्ययन से सरल है। यही कारण है कि पशुओं के व्यवहारों का अध्ययन आजकल अधिक होने लगा है। पशुओं और मनुष्यों की क्रियाओं में केवल विकास की मात्रा का अन्तर पाया जाता है। अतः पशुओं का अध्ययन कर मनुष्यों के व्यवहारों के संबंध में निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं को अध्ययन के सिलसिले में आसानी में नियंत्रित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए प्रयोज्य के रूप में पशुओं की उपलब्धता भी आसान है। सीखने की क्रिया, समस्या समाधान, संवेगों में होने वाले परिवर्तन, मानसिक कार्यों की तुलना मानव व्यवहारों के साथ की जाती है। इसीलिए पशु मनोविज्ञान को तुलनात्मक मनोविज्ञान भी कहा जाता है। मानव-प्रकृति को भली-भाँति समझने हेतु पशुओं एवं मनुष्यों की प्रकृति का 'तुलनात्मक अध्ययन' करना ही पशु मनोविज्ञान का मुख्य ध्येय है।

6. समाज मनोविज्ञान- मुनष्य जन्मकाल से मृत्युपर्यत दूसरों के साथ रहता है। फलस्वरूप, उसके प्रत्यक्षीकरण, संवेग, भाव, चिंतन आदि मनोविज्ञान प्रक्रियाओं पर दूसरों के भाव, संवेग, चिन्तन आदि का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव एकतरफा न होकर सदा दुतरफा पड़ता है। अर्थात्, एक व्यक्ति का व्यवहार और उसकी अनुभूति उसके समाज के दूसरे लोगों को प्रभावित करती है और दूसरे लोगों के व्यवहार और अनुभूति द्वारा वह व्यक्ति भी प्रभावित होता है। इसलिए व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों के 'अन्योन्याश्रय संबंध अर्थात् 'टू-वे ट्रैफिक' की संज्ञा दी जाती है। समाज मनोविज्ञान के अंतर्गत व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक अंतःक्रिया का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न अध्ययनों से यह भी पता चला है कि मनुष्य जब एकांत में अर्थात् दूसरों के साथ नहीं रहता और जब वह दूसरों के साथ रहता है, तब उसके व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) में भिन्नता पाई जाती है। अतः सामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत व्यक्ति के व्यवहार एवं अनुभवों का अध्ययन बिना उसके सामाजिक पृष्ठभूमि के किया जाता है। लेकिन, समाज मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार और अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन उसके सामाजिक वातावरण में किया जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाज मनोविज्ञान व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का अध्ययन उसके सामाजिक संदर्भों में करता है। इसके अंतर्गत समाजीकरण, नेतृत्व,प्रचार, मनोवृत्ति, सामाजिक संघर्ष सामुदायिक जीवन, इत्यादि समस्याओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाता है। इन

समस्याओं के अध्ययन से व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक-दोनों प्रकार के व्यवहारों को अच्छी तरह समझने में पर्याप्त मदद मिलती है।

7. **असामान्य मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मनोविज्ञान मनुष्य की अभियोजन-संबंधी क्रियाओं (मानसिक एवं शारीरिक) का अध्ययन करता है। मुनष्य अभियोजन के क्रम में कभी सफल होता है तो कभी विफल। सफलतापूर्वक अभियोजन होने पर व्यक्ति का विकास सामान्य ढंग से होता है और उसके सभी व्यवहार सामान्य होते हैं। लेकिन, असफल होने पर व्यक्ति का विकास असामान्य रूप से होता है और उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है। मनोविज्ञान सफल और असफल दोनों प्रकार के अभियोजन-संबंधी व्यवहारों का ही अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की इस शाखा में व्यवहार के असामान्य स्वरूपों का वर्णन, कारण एवं निवारण के उपायों का पता लगाया जाता है। इस प्रकार, इसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों, चारित्रिक दोष एवं मनोविकारी व्यक्तित्व, अपराध एवं बाल अपराध, यौन विकृतियाँ, मद्यपानता एवं मादक द्रव्य व्यसन, मानसिक दुर्बलता तथा इनकी चिकित्सा आदि की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

2.4.2 व्यावहारिक मनोविज्ञान:-

व्यावहारिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध सैद्धान्तिक मनोविज्ञान द्वारा अर्जित मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने एवं मानव जीवन को सुखमय बनाने से है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य शाखाएँ आती हैं -

1. **शिक्षा मनोविज्ञान-** शिक्षा मनोविज्ञान में बालकों की शिक्षा से संबद्ध विभिन्न समस्याओं - जैसे बालकों की योग्यताओं, अभिरूचियों एवं ग्राह्य क्षमता के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करना, उनकी शैक्षणिक योग्यता में वृद्धि का उपाय करना, छात्रों एवं शिक्षकों के बीच के पारस्परिक संबंधों को उपयुक्त अभियोजन के योग्य बनाना इत्यादि का अध्ययन किया जाता है तथा नई-नई विधियों का प्रयोग भी किया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त समस्याओं का अध्ययन करने के अतिरिक्त मार्गदर्शन एवं परामर्श का भी कार्य करते हैं। आधुनिक समय में शिक्षा मनोवैज्ञानिक छात्रों को शैक्षणिक मार्गदर्शन एवं व्यवसाय-संबंधी मार्गदर्शन के साथ-साथ उनके संपूर्ण अभियोजन से संबंधित समस्याओं का अध्ययन भी करने लगे हैं। वे छात्रों की वैयक्तिक योग्यताओं की जाँच कर उनकी मानसिक शक्तियों का पता लगाते हैं तथा तदनुसार ही शिक्षा का कार्यक्रम भी बनाते हैं। इस दायित्व के अंतर्गत पिछड़े बालकों, श्रेष्ठ बालकों, एवं अन्य समस्यामूलक बालकों की समस्याओं का अध्ययन करना एवं उनके योग्य शिक्षा-व्यस्था का कार्यक्रम तैयार करना शामिल है। इस प्रकार, शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र और इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों के कार्य अत्यन्त ही विस्तृत एवं जटिल हैं।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि शिक्षा मनोविज्ञान की विषय-वस्तु को निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है- शिक्षार्थी, सीखने की प्रक्रिया, सीखने की परिस्थितियाँ एवं मूल्यांकन तथा परीक्षण। शिक्षा मनोवैज्ञानिक का कार्य इन चारों क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने एवं शिक्षा व्यवस्था को समय के अनुरूप बनाने में सहयोग करना है।

2. औद्योगिक मनोविज्ञान- औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पूरे विश्व में एक नये समाज का उद्भव हुआ जिसे औद्योगिक समाज कहा गया। अपने गाँव-घर से दूर लोग शहरों में जा-जाकर विभिन्न उद्योग-धन्धों में लगकर अपनी जीविका चलाने लगे। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व मशीनों की तरह ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने वाले मजदूरों से भी काम लिया जाता था। वे यह भी विश्वास रखते थे कि प्रत्येक व्यक्ति सभी कार्यों को सफलतापूर्वक कर सकता है। लेकिन, जब मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का उपयोग मनोवैज्ञानिकों द्वारा इन प्रतिष्ठानों में किया जाने लगा तब उपर्युक्त धारणाएँ गलत साबित हुई । इन गलत धारणाओं के कारण ही पहले औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रम की बरबादी, कार्य में अकुशलता, दुर्घटनाएँ, एवं मजदूरी में हेर-फेर जैसी गंभीर समस्याएँ रहती थी। इन समस्याओं का वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन पर बहुत बुरा असर पड़ता था तथा अर्थव्यवस्था भी काफी हद तक प्रभावित होती थी। इन समस्याओं से निबटने हेतु धीरे-धीरे लोगों में जागृति आई और सरकार एवं कल-कारखानें के मालिक श्रम-कल्याण एवं आर्थिक लाभ को बढ़ाने के नए-नए तरीकों की खोज करने की दिशा में अग्रसर हुए। इनके इस प्रयास में मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन से यह सिद्ध किया कि मनोवैज्ञानिक नियमों एवं सिद्धान्तों का उपयोग कर औद्योगिक प्रतिष्ठानों की अनेक समस्याओं को दूर किया जा सकता है और साथ ही साथ इन प्रतिष्ठानों के स्वामियों एवं काम करने वाले श्रमिकों-दोनों पक्षों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु औद्योगिक मनोवैज्ञानिक ने औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया और इस निमित्त उचित काम के लिए उचित व्यक्ति के चयन के तरीकों को उपयोग में लाया गया। इस कार्य में वैयक्तिक विभिन्नता संबंधी मनोवैज्ञानिक तथ्यों से काफी सहायता मिली है। इन अध्ययनों से अब यह साबित किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति हर काम को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। इसलिए कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि वैस ही व्यक्ति का चयन किया जाए, जिसमें किसी कार्यविशेष को सफलतापूर्वक करने की मानसिक एवं शारीरिक योग्यता, अभिरूचि, झुकाव और गुण विद्यमान हों। इसके लिए जिन लोगों में कार्य विशेष को करने की अपेक्षित योग्यता पाई जाती है उनको उक्त कार्य के लिए चुना जाता है। कामगारों के चयन हेतु उनकी मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं, अभिरूचियों आदि की जाँच करने हेतु वस्तु परक, विश्वसनीय एवं सही परीक्षणों का निर्माण किया जाता है, जिससे उपर्युक्त कार्य के लिए उपर्युक्त व्यक्ति का चयन करने में मदद मिलती है।

कार्य में कुशलता, काम करने के भौतिक वातावरण जैसे- प्रकाश, आर्द्रता, शोरगुल, हवा, प्रदूषण, इत्यादि, 'मनोवैज्ञानिक वातावरण, जैसे- थकान एवं विश्राम, कार्य का रूचिकर होना, कार्य का मितव्ययी होना इत्यादि एवं 'सामाजिक वातावरण' जैसे- उद्योगों के कार्यरत विभिन्न स्तर के कर्मचारियों, प्रबंधन, कल-कारखानों के मालिकों इत्यादि के बीच के पारस्परिक संबंध, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक जीवन से संबंधित सुविधाओं इत्यादि पर भी निर्भर करता है। आधुनिक औद्योगिक मनोवैज्ञानिक इन क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

कार्य में कुशलता की वृद्धि के साथ-ही-साथ उद्योग-धंधों से संबंद्ध कुछ अन्य समस्याएँ, जैसे- हड़ताल, औद्योगिक अशांति, तालाबंदी, दुर्घटना, इत्यादि के मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करना भी औद्योगिक मनोविज्ञान का विषय है।

3. **व्यावसायिक मनोविज्ञान-** औद्योगिक मनोविज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में ही इन दिनों व्यावसायिक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें व्यावसायिक मार्गदर्शन, परामर्श एवं व्यावसायिक अभियोजन संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा इन समस्याओं को दूर करने हेतु मनोवैज्ञानिक नियमों का उपयोग किया जाता है। इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिक के दो प्रधान लक्ष्य होते हैं- (क) व्यक्ति का विश्लेषण करना एवं (ख) कार्य का विश्लेषण करना। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की मानसिक शक्ति, योग्यता, अभिरूचि, आदि को मापने के लिए परीक्षणों का निर्माण एवं कार्य-विश्लेषण की अनेक विधियों को उपयोग में लाते हैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि औद्योगिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'काम' के अनुसार व्यक्ति का चयन करना होता है, जबकि व्यावसायिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'व्यक्ति के अनुसार काम का चयन करना होता है। मनोवैज्ञानिक अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बालकों की बाल्यावस्था में ही उनकी मानसिक योग्यता, झुकाव तथा अभिरूचियों का पता लगाते हैं, जिससे उन्हें उपयुक्त व्यवसाय के योग्य प्रशिक्षण एवं मार्गनिर्देशन दिया जा सके तथा वयस्क होने पर वे अपनी योग्यता का पूरा-पूरा उपयोग चुने हुए व्यवसाय में कर सकें।
4. **नैदानिक मनोविज्ञान-** नैदानिक मनोविज्ञान मूलतः असामान्य मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा है। असामान्य मनोविज्ञान में विभिन्न प्रकार की असामान्यताओं का अध्ययन जहाँ सैद्धान्तिक रूप से किया जाता है वहीं नैदानिक मनोविज्ञान में इन असामान्यताओं को दूर करने हेतु व्यावहारिक तरीके अपनाने पर जोर दिया जाता है।

   मनोविज्ञान की इस शाखा की विषय वस्तु है- विभिन्न मानसिक बीमारियों, जैसे- मनःस्नायुविकृति, मनोविकृतियाँ, मनोदैहिक बीमारियाँ, लैंगिक तथा चारित्रिक दोष, अपराध

एवं बाल अपराध, मनोविकारी व्यक्तित्व इत्यादि का अध्ययन करना तथा इनकी चिकित्सा हेतु विभिन्न विधियों, जैसे- संसूचन, सम्मोहन, मनोविश्लेषण, पुनःशिक्षण, आघात चिकित्सा, व्यवहार-परिमार्जन, मनोशल्य विधि आदि का उपयोग कर स्वास्थ्य लाभ पहुँचाना। इसके अतिरिक्त, नैदानिक मनोवैज्ञानिक इस बात में भी विश्वास रखते हैं कि 'चिकित्सा से संयम सदा उत्तम होता है' इसलिए मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने का निर्देशन देना भी इनका दायित्व हो जाता है। इस प्रकार नैदानिक मनोविज्ञान अभियोजन, मानसिक स्वास्थ्य, मानसिक रोग तथा विकृतियों के उपचार के संबध में अध्ययन करता है।

5. **चिकित्सा मनोविज्ञान-** आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्राप्त तथ्यों का उपयोग चिकित्सा के क्षेत्र में भी बहुत अधिक होने लगा है। प्रायः यह देखा जाता है कि विभिन्न शारीरिक व्याधियों से पीड़ित व्यक्ति किसी-न-किसी रूप से मानसिक तौर पर भी अस्वस्थ या बीमार रहता है। अतः शारीरिक रोगों का मन पर भी प्रभाव रहता है। इतना ही नहीं बल्कि कई प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी मानसिक कारणों से होती हैं, जैसे- पेट की बीमारी, हृदय-संबंधी रोग, रक्तचाप-संबंधी गड़बड़ी इत्यादि। अतः मनोविज्ञान की सहायता से इन रोगों की चिकित्सा करने पर रोगी के शीघ्र ठीक होने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए, कुशल डॉक्टर अपने रोगियों की चिकित्सा हेतु मनोवैज्ञानिकों की राय भी आवश्यक रूप से लेते हैं। प्रायः सभी अच्छे अस्पतालों में मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति की जाती है, जो मरीजों की चिकित्सा में डॉक्टरों की सहायता करते हैं।

6. **अपराध-संबंधी मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान की इस शाखा का संबंध अपराधियों की मनःस्थिति का अध्ययन करने, उनके कारणों का पता लगाने तथा इसे नियंत्रित करने के उपायों से है। मनोविज्ञान का विकास होने से पूर्व आम धारणा यह थी कि अपराधी जन्म से ही अपराधी होता है वह कभी भी अपने को समाज में अभियोजित नहीं कर सकता। लेकिन, मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपराध की प्रवृत्ति एक प्रकार की असामान्यता है जो व्यक्ति के असामान्य विकास का सूचक है। अतः जिस प्रकार व्यक्तित्व की अन्य असामान्यताओं को दूर किया जा सकता है, उसी प्रकार अपराधियों को भी पुनः सफल अभियोजन के योग्य बनाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि कोई भी व्यक्ति जन्मजात अपराधी नहीं होता, अपितु जन्म के बाद सामाजिक वातावरण में अभियोजन के क्रम में उत्पन्न कठिनाइयों, पारिवारिक विकृतियों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकृतियों , जीवन से निराशा आदि कारणों से व्यक्ति धीरे-धीरे अपराधी बनता है। अतः इन कारणों को नियंत्रित कर अपराध को नियंत्रित किया जा सकता है तथा अपराधियों के व्यक्तित्व का अध्ययन कर उन्हें पुनः अच्छे नागरिक के रूप में परिणित किया जा सकता है। इस प्रकार, हम देखते है मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के परिणामस्वरूप समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हुआ और इन दिनों अनेक मनोवैज्ञानिक अपराधा शाखा में सराहनीय कार्य कर इस समस्या पर नियंत्रण पाने का

प्रयास कर रहे हैं। इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों का उद्देश्य अपराधियों का पता लगाना, उनके कारणों को जानना और अपराधियों में सुधार लाकर उन्हें अपने समाज में सफलतापूर्वक अभियोजन के योग्य बनाना होता है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की इस शाखा के अतंर्गत अपराध से संबंधित समस्याओं को जानने एवं उन्हें नियंत्रित करने के उपाय किए जाते हैं।

7. **कानून-संबंधी मनोविज्ञान-** आजकल मनोविज्ञान का उपयोग कानून एवं न्याय-संबंधी क्षेत्रों में भी होने लगा है। इससे अपराधियों का सही-सही पता लगाने में बहुत अधिक मदद मिलती है। जैसे- लाई डिटेक्टर, साइको गैल्वेनोमीटर, आदि का उपयोग कर अपराध में अंतर्लिप्त व्यक्तियों का पता आसानी से लगाया जा सकता है।

इसके साथ ही साथ, अब यह भी महसूस किया जाने लगा है कि अनेक अपराध मानसिक असामान्यताओं के कारण होते हैं। अतः ऐसे अपराधियों को जेल की सजा न देकर उनकी असामान्यता को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस दायित्व का निर्वाह करना भी इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों का उद्देश्य होता है।

अतएव, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कानून-संबंधी मनोविज्ञान के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक विभिन्न मनोवैज्ञानिक परीक्षणों एवं यंत्रों द्वारा सही अपराधी का पता लगाने एवं उनकी मानसिक असामान्यताओं को दूर करने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि अपने उद्भव के लगभग 130 वर्षों के भीतर ही मनोविज्ञान की अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे दिन-प्रतिदिन के शोधों एवं प्रगतियों के फलस्वरूप प्रतिदिन नई-नई शाखाओं का प्रादुर्भाव हो रहा है। यहाँ तक कि इन दिनों अभियंत्रण तकनीकी, प्रशासन एवं प्रबंधन, योग, खेलकूद, आदि क्षेत्रों में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का उपयोग होने लगा है और आशा है, आने वाले कुछ वर्षों में और भी नई शाखाएँ खुल जाएँगी।

2.5 सारांश

मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, व्यापार, मिलिटरी, उद्योग, स्वास्थ्य, अपराध, अभियंत्रण, चिकित्सा, प्रबन्धन, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध, क्रीड़ा आदि का अध्ययन किया जाने लगा है।

2.6 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

3. निम्नलिखित में से मनोविज्ञान की कौन-सी शाखा व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आती है-

अ) सामान्य मनोविज्ञान ब) शिक्षा मनोविज्ञान

स) बाल मनोविज्ञान द) असामान्य मनोविज्ञान

उत्तर: 1) ब 2) स 3) ब

2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान - डॉ0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास।
- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोर्ट ब्रेस, लंदन।
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन।
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलेमान एवं खान- शुक्ला बुक डिपो, पटना।

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मनोविज्ञान की परिभाषा दें। इसके क्षेत्र की विवेचना करें।
2. सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का परिचय करायें।
3. व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन करें।

इकाई 3 .मनोविज्ञान के अध्ययन की विधियां (Methods of study of Psychology)

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मनोविज्ञान की विधियाँ
3.3.1 वैज्ञानिक विधियों की विशेषताएँ
3.4 अवलोकन विधि
3.4.1 अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method)
3.4.2 बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method)
3.5 प्रयोगात्मक विधि
3.5.1 परिवर्त्य (variable)या चर
3.5.2 परिवर्त्यों के प्रकार
3.5.3 प्रयोगात्मक विधि के गुण
3.5.4 प्रयोगात्मक विधि की सीमाएँ
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अन्य विषयों की तरह मनोविज्ञान की विषयवस्तु के अध्ययन हेतु भी विभिन्न विधियों का - इस्तेमाल किया जाता है। इन विधियों केद्वारा मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध अध्ययन-विषय की आवश्यक सामग्री एकत्रित की जाती है, फलतः मनोविज्ञान के विषयविस्तार में इजाफा होता - है और उसका क्षेत्र व्यापक होता जाता है। आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए दूसरे विज्ञानों की तरह ही वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित कई विधियों का उपयोग किया जाने लगा है। इन विधियों के कारण ही मनोविज्ञान विज्ञान का दर्जा प्राप्त कर सका है।

प्रस्तुत इकाई में हम लोग विधियों की महत्ता, वैज्ञानिक विधियों की विशेषता, अवलोकन विधि के अन्तर्गत अन्त निरीक्षण एवं:बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) के गुणदोष तथा प्रयोगात्मक विधि की विशेषताओं- पर विस्तृत रूप से चर्चा करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

- वैज्ञानिक विधियों की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।
- अवलोकन का अर्थ समझ सकेंगे तथा अन्तःनिरीक्षण एवं बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method)यों की विशेषताओं एवं खामियों का खाका खींच सकेंगे।
- प्रयोग एवं प्रयोगात्मक विधि के गुण- दोषों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- परिवर्त्य (variable)एवं उनके विभिन्न प्रकारों को रेखांकित कर पायेंगे।

3.3 मनोविज्ञान की विधियाँ

प्रत्येक विज्ञान अपनी विषयवस्तु के अध्ययन हेतु- कुछ विशेष विधियों का उपयोग करता है। किसी विज्ञान द्वारा अपनी विषयवस्तु से संबद्ध आवश्यक सामग्री एकत्र करने का जो तरीका इस्तेमाल - किया जाता है, इसे ही अध्ययन की विधि कहते हैं। किसी विज्ञान की अध्ययनविधि क्या होगी -, यह उसकी विषय वस्तु पर निर्भर है।-मनोविज्ञान की विषय वस्तु प्राणी की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन है। प्राणी का व्यवहार अत्यन्त जटिल होता है (व्यवहार), क्योंकि यह गत्यात्मक स्वरूप का होता है, अर्थात यह प्रत्येक क्षण बदलता रहता है । उसमें स्थिरता नहीं पाई जाती है। इसलिए मनोविज्ञान की विधियाँ भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र या अन्य पर्यावरणीय विज्ञान की तरह निश्चित तथा यथार्थ नहीं हो सकती। प्राणी के व्यवहारों को तत्वों एवं परमाणुओं की तरह नियंत्रित करना भी संभव नहीं। इस संबंध में एक और बात यह भी है कि चूँकि मनोविज्ञान एक नवीन विज्ञान है, इसलिए अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में मनोविज्ञान के क्षेत्र में पूर्वपरीक्षित -अर्जित ज्ञानभंडार एवं पूर्व-वैज्ञानिक विधि का अभाव होना स्वाभाविक है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन बिल्कुल भी संभव नहीं है। आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए दूसरे विज्ञानों की तरह ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित कई प्रकार की विधियों का उपयोग किया जाने लगा है। सच्चाई तो यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान को वैज्ञानिक विधियों के कारण ही विज्ञान का दर्जा प्राप्त हो चुका है।

3.3.1 वैज्ञानिक विधियों की विशेषताएँ-

वैज्ञानिक विधियों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. **वस्तुनिष्ठता (objectivity) -** किसी भी वैज्ञानिक विधि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता या गुण वस्तुनिष्ठता (objectivity) होती है। जब अध्ययनकर्ता आलोच्य विषय से संबद्ध विभिन्न तथ्यों को ज्यों-का-त्यों एकत्र करता है, न कि अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार, तब उसके

अध्ययन के तरीके को वस्तुनिष्ठ या निष्पक्ष कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन में यह गुण सबसे अधिक महत्व रखता है। यही कारण है कि ज्ञान के जिस क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता (objectivity) का अभाव पाया जाता है, उसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जाता। **सत्यापन गुण-** वैज्ञानिक विधि का दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे ठीक उसी रूप में, अर्थात पहले की तरह, दुहराया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई वैज्ञानिक जिस तरह एक किसी घटना के बारे में कोई परिणाम या निष्कर्ष एक बार प्राप्त करता है, उसी विधि एवं परिस्थिति का उपयोग कर कोई भी दूसरा वैज्ञानिक प्राप्त परिणामों की जाँच कर सकता है। इसी तरह एक वैज्ञानिक स्वयं भी जब चाहे उस विधि की पुनरावृत्ति कर अपने पूर्व के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों की पुष्टि या जाँच कर सकता है।

2. **नियंत्रित परिस्थिति में अध्ययन (study under controlled condition)**कोई भी विधि वैज्ञानिक तभी कही जाएगी जब उसका इस्तेमाल नियंत्रित परिस्थिति में किया जाए, ताकि जिस घटना विशेष का अध्ययन वैज्ञानिक करता है, उसके बारे में निश्चित एवं ठोस तथ्य प्राप्त किया जा सके। नियंत्रित परिस्थिति से हमारा अभिप्राय यह है कि अध्ययन इस तरह से किया जाए जिसमें अध्ययन हेतु जिस परिवर्त्य (variable)को चुना गया है, उसके अतिरिक्त अन्य परिवर्त्य (variable)अध्ययन - विषय पर प्रभाव न डाल सकें। ऐसा न होने पर प्राप्त परिणाम निश्चित, ठोस एवं विश्वसनीय नहीं होगा।
3. **विश्वसनीयता एवं वैधता(Reliability and validity)(-** वैज्ञानिक विधि की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि उसमें विश्वसनीयता एवं यथार्थता का गुण विद्यमान हो। जब किसी विधि द्वारा अध्ययन करने पर बारबार एक ही तरह का परिणाम मिलता है तब इस विधि - को विश्वनीय विधि कहते हैं। इसी तरह किसी विधि का प्रयोग कर वैज्ञानिक जिस घटना विशेष के बारे में अध्ययन करना चाहता है, यदि उस विधि द्वारा उसी घटना पर प्रकाश पड़ता है तो उस विधि को यथार्थ विधि कहते हैं।
4. **क्रमबद्धता (Serialization)-** वैज्ञानिक विधि की यह भी एक महत्वपूर्ण विशेषता होती है। वस्तुतः क्रमबद्धता (Serialization) वैज्ञानिक अध्ययनों की एक आवश्यक शर्त होती है। वैज्ञानिक अपने अध्ययन को क्रमबद्ध बनाने के उद्देश्य से ही पूर्णनियोजित ढंग से अध्ययन करता - है। प्रयोगात्मक विधि मेंक्रमबद्धता (Serialization)ा का गुण सर्वाधिक पाया जाता ह , इसलिए वैज्ञानिक इस विधि का ही उपयोग अधिकतर करते हैं।
5. **सांख्यिकीय विश्लेषण की संभावना- (Possibility of statistical analysis)**वैज्ञानिक अध्ययनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि अध्ययन के क्रम में प्राप्त विवरणों का विश्लेषण सांख्यिकीय रूप से हो सके। इस तरह से प्राप्त परिणाम संक्षिप्त, निश्चित, एवं प्रामाणिक होते हैं।

3.4 अवलोकन विधि

मनोविज्ञान में अवलोकन विधि का विशेष महत्व है। अवलोकन किसी भी विज्ञान की एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक विधि है। इसमें अवलोकनकर्ता सूचना के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित रहता है तथा अपने शोध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करता है। यह सहभागी तथा असहभागी दोनों ही प्रकार का होता है। सहभागी अवलोकन में अवलोकनकर्ता उस समूह का सदस्य बन जाता है जिसका या जिसके सदस्यों का वह अध्ययन करना चाहता है। असहभागी अवलोकन में अवलोकनकर्ता समूह से अलग रहकर समूह के सदस्यों के व्यवहारों का अध्ययन करता है।

अवलोकन नियंत्रित और अनियंत्रित दोनो ही परिस्थितियों में किया जाता है। मनोविज्ञान में अवलोकन आन्तरिक एवं बाह्य दोनों तरह से किया जाता है। प्रयोगकर्ता स्वयं अपना अवलोकन कर सकता है या फिर वह दूसरे प्रयोज्यों का अध्ययन कर सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में अवलोकन विधि के अन्तर्गत जिन दो महत्वपूर्ण विधियों का उपयोग मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन हेतु किया जाता है वे हैं -

क- अन्तर्निरीक्षण विधि (Introspection method)

ख- बाह्य निरीक्षण विधि (External observation method)

इसके अतिरिक्त, आधुनिक मनोविज्ञान का आधार प्रयोगात्मक विधि पर आधारित है। जो मनोविज्ञान को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन विधियों का वर्णन आगे किया गया है-

3.4.1 अन्तर्निरीक्षण विधि (Introspection method)-

अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की एक पुरानी विधि है। यह विधि संरचनावादी स्कूल के मनोवैज्ञानिक की देन है जिन्होंने मनोविज्ञान को चेतन अनुभूति का विज्ञान कहकर पुकारा और अन्तर्निरीक्षण को ही इसके अध्ययन की एकमात्र विधि माना। अन्तर्निरीक्षण का तात्पर्य अपने अन्दर देखना या झाँकना होता है अर्थात् जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं)अनुभूतियों (sensations) का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे में ('रिपोर्ट' देता है तब उसे अन्तर्निरीक्षण करना कहते हैं। अन्तर्निरीक्षण में व्यक्ति अपने अंतस् या अन्दर की मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण करता है। अर्थात्, किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति जो अनुभव करता है उसके अन्दर जो भाव उत्पन्न (सुखद या दुखद) होते हैं अथवा वह मानसिक रूप से जो सोचता है, इत्यादि अन्दर की आत्मगत बातों का निरीक्षण करता है और 'रिपोर्ट' देता है तब वही अन्तर्निरीक्षण है। इस प्रकार, व्यक्ति जब अपनी मानसिक

क्रियाओं को 'स्वयं' अपने ही अन्दर देखता है और अपनी वर्तमान एवं तात्कालिक अनुभवों को बताता है तब निरीक्षण की इस विधि को अन्तर्निरीक्षण कहेंगे। दूसरे शब्दों में, किसी उत्तेजना से होने वाले तात्कालिक चेतन अनुभवों को स्वयं निरीक्षण कर व्यक्त करना ही अन्तर्निरीक्षण है। चेतन अनुभवों के इस वर्णन में दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ पाई जाती है-

1. चेतन अनुभूतियों (sensations) का वर्णन करना और अनुभव का होनासाथ -दोनों क्रियाएँ साथ-चलती हैं। अर्थात् यदि अनुभव समाप्त होने पर उसका वर्णन किया जाए जो उसे अन्तर्निरीक्षण की संज्ञा नहीं दी जा सकती।
2. अन्तर्निरीक्षण में चेतन अनुभव के प्रत्यक्ष एवं प्रकट रूपों का वर्णन नहीं किया जाता, बल्कि उनके मूल रचनात्मक तत्वों को वर्णन किया जाता है। प्रत्येक अनुभव तीन प्रकार के रचनात्मक तत्वों के योग से निर्मित होते हैं संवेदना -, प्रतिमा एवं भाव। अतः किसी उत्तेजना से होने वाले चेतन अनुभवों के इन्हीं तीन तत्वों की खोज कर उनके गुणों के साथ वर्णन करना अन्तर्निरीक्षण की क्रिया कही जाती है। उदाहरण के लिए, मान लें आपके हाथ में गुलाब का एक फूल है जिस आप देख रहे हैं। अतः, दृष्टि संवेदना द्वारा उसके प्रकारयथा लाल-, पीला या काला रंग, उसकी तीव्रता यथा - चमकीला, गाढ़ा या फीका और चूँकि वह आपके हाथ में है, इसलिए गति संवेदना द्वारा उसके वजन का अनुभव एवं चूँकि उसकी पंखुड़ियाँ आपके हाथ से स्पर्श हो रही है इसलिए मुलायम या कड़ा होने का अनुभव आपको होता है। इसके साथसाथ-, उस गुलाब के फूल को देखने पर आपको सुख या दुःख का अनुभव होता है, वह आपको प्रिय लगता है या अप्रिय लगता हैइन सभी - आत्मगत बातों का निरीक्षण कर अभिव्यक्त करना ही अन्तर्निरीक्षण कहलाता है।

i.अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) के गुण- चूँकि, मनोविज्ञान में मनुष्य की मानसिक क्रियाओं, अर्थात् चेतन अनुभवों का अध्ययन किया जाता है, इसलिए इन अनुभवों का क्रमबद्ध अध्ययन करने हेतु 'अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method)' का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी किसी विधि द्वारा चेतन अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन करना संभव नहीं है क्योंकि अनुभूतियाँ वैयक्तिक या आत्मगत स्वरूप की होती हैं।अतएव यदि मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में इस विधि का उपयोग न किया जाए तो अनुभूतियों (sensations) का अध्ययन नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन अधूरा रह जाएगा। किसी व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं, जैसेसुख या दुःख के अनुभव-, स्मरण, कल्पना, स्वप्न आदि का सीधा अध्ययन, अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) द्वारा ही संभव है।

अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की एक अनोखी विधि है, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान को दूसरे विज्ञानों से भिन्न किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, भौतिकी, रसायन आदि भी विज्ञान हैं, परन्तु इन विज्ञानों द्वारा अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) का उपयोग नहीं किया जाता। अब मान

लें हमें दो वजनों का तुलनात्मक अध्ययन करना है , यह अध्ययन भौतिक और मनोविज्ञान दोनों में - किया जाता है। भौतिकी में दिए गए दोनो वजनों को तौलने वाले तराजू के पल्लों पर चढ़ाकर, आँखों से तराजू के

काँटों को देखकर दोनों में किसी को भी या हल्का और दूसरे को भारी होने का निर्णय किया जाएगा। यहाँ यह निर्णय अन्तर्निरीक्षण पर आधारित होगा, जो भौतिकी में संभव नहीं है।

अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) का ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योंकि मनोविज्ञान को दर्शनशास्त्र से अलग एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में परिणित करने में इस विधि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारम्भ के वुंट, टिचनर आदि मनोवैज्ञानिकों ने इसी विधि के सहारे मनोविज्ञान में वैज्ञानिक अध्ययन किया था। अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) से प्राप्त सामग्री द्वारा मनोविज्ञान की दूसरी वस्तुनिष्ठ विधियों से प्राप्त सामग्री की विश्वसनीयता की जाँच की जा सकती है तथा दूसरी विधियों की कमियों को पूरा भी किया जा सकता है। इस प्रकार, दूसरी विधियों के साथ एक पूरक विधि के रूप में इसका उपयोग विशेष महत्व रखता है।

अतः इम देखते हैं कि अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण विधि है। परन्तु साथसाथ इस विधि में कुछ त्रुटियाँ भी पाई जाती हैं जिसका उल्लेख -ही- किया जाना भी अपेक्षित है।

ii. **अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) के दोष-** अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की पहली त्रुटि यह बताई जाती है कि यह वैयक्तिक एवं आत्मनिष्ठ विधि है। अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) में मानसिक अनुभूतियों (sensations) का निरीक्षण केवल अन्तर्निरीक्षण अर्थात् अनुभवकर्ता ही कर सकता है, दूसरा कोई व्यक्ति नहीं। फलस्वरूप, एक ही परिस्थिति में दो निरीक्षकों के अनुभव भिन्न हो सकते हैं । जैसे मान लें, आप किसी खास स्थिति में कोई कार्य करते हैं और कुछ देर तक उस कार्य को करने के पश्चात् आपको उस कार्य के प्रति नीरसता का अनुभव होता है । अतः जब आप अन्तर्निरीक्षण करेंगे तब नीरसता का अनुभव अभिव्यक्त करेंगे। लेकिन उस स्थिति में उस कार्य को जब कोई दूसरा व्यक्ति, जो हर तरह से आपके समान ही है, करता है तब उसे वह कार्य नीरस या अरूचिकर नहीं लगता । यहाँ कार्य का स्वरूप, कार्य करने की स्थिति एवं कार्य करने वाले व्यक्ति, सब समान रहते हुए भी दोनो की मानसिक अनुभूतियों (sensations) में भिन्नता होती है। जो व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक अनुभूति कही जाएगी। स्पष्ट है कि इस स्थिति में अन्तर्निरीक्षण के आधार पर प्राप्त तथ्यों द्वारा सामान्य नियमों की स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुभूतियां वैयक्तिक एवं आत्मनिष्ठ हुआ

करती हैं अतः इस विधि पर आधारित निष्कर्ष विश्वसनीय एवं वैध नहीं होते । अतएव, यह एक अवैज्ञानिक विधि है।

अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की दूसरी त्रुटि यह है कि अन्तर्निरीक्षण करते समय अन्तर्निरीक्षण को एक ही साथ दोहरा कार्य करना होता है । इसका नतीजा यह होता है कि मन दो भागों में बँट जाता है। एक तरफ उसका मन जिस मानसिक क्रिया का अन्तर्निरीक्षण किया जा रहा है, उसके बारे में जानकारी हासिल करता है और दूसरी तरफ उस क्रिया के बारे में भी जानकारी प्राप्त करता है । इस तरह के विभाजन के कारण अन्तर्निरीक्षण की क्रिया बदल जाती है। हाँ, अनुनिरीक्षण संभव हैं अर्थात् कोई क्रिया हो रही हो ,उसी समय निरीक्षण नहीं करके उस क्रिया की समाप्ति के बाद निरीक्षण किया जा सकता हैं जैसे भय की अवस्था में अन्तर्निरीक्षण न कर, भय समाप्त होने के बाद अनुनिरीक्षण करना । परन्तु, अनुनिरीक्षण में कुछ कमियाँ हैं-

a. अनुर्निरीक्षण की क्रिया अनुर्निरीक्षण की स्मृति पर निर्भर करता है। मानसिक क्रियाओं का सही-सही वर्णन सदा संभव नहीं। अनुभव करने की क्रिया के समाप्त होने के बाद किए गए निरीक्षण में उस अनुभव के कुछ अंश मिट सकते हैं अथवा उनके वर्णन के ढंग में कुछ परिवर्तन आ सकता है। इसलिए अनुर्निरीक्षण बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है।

b. अनुर्निरीक्षण के पक्षपातपूर्ण होने की बहुत अधिक संभावना है, क्योंकि निरीक्षण दोषपूर्ण मनोभावों को छिपा सकता है तथा उसकी जगह असत्य बातों को प्रकट कर सकता है। फिर, अर्धचेतन एवं अचेनत अनुभवों का निरीक्षण करना तो संभव ही नहीं है। अतः मन के इन स्तरों के मनोभावों का अध्ययन संभव नहीं।

c. हमारी मानसिक क्रियाएँ इतनी चंचल होती हैं कि बहुत अल्प समय के लिए ही हमारी चेतना में रहती हैं और इतने अल्प समय में निरीक्षण करना एक कठिन कार्य है। अन्तर्निरीक्षण में निरीक्षक एवं जिसका निरीक्षण किया जाता है, अर्थात् प्रयोज्य, दोंनों एक ही व्यक्ति होता है, जो परस्पर विरोधी होते हैं। अतः कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि दोंनों कार्य एक ही व्यक्ति करे और यदि ऐसे संभव भी हो तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं है।

अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों को दुबारा जाँच करके उन्हें सत्यापित भी नहीं किया जा सकता। सत्यापन किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः इस दृष्टिकोण से भी यह विधि अवैज्ञानिक मालूम पड़ती है।

अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की एक कठिनाई यह भी है कि भाषा ज्ञान के अभाव में अनेक प्रकार के अनुभवों को सही-सही शब्दों द व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसे अनुभवों के लिए उपयुक्त शब्दों का प्रायः अभाव होता है।

इस विधि के संबंध में एक और आपत्ति यह उठाई जाती है कि इसका उपयोग सभी प्रकार के अध्ययनों में नहीं किया जा सकता। इसका उपयोग केवल प्रौढ़ व्यक्तियों पर ही किया जा सकता है। बच्चे, बूढ़ों एवं असामान्य व्यक्तियों अथवा पशुओं की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन इस विधि द्वरा संभव नहीं। अतः इसके उपयोग का क्षेत्र अत्यंत सीमित है।

इस विधि की एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इस विधि द्वारा चेतन अनुभवों के रचनात्मक तत्वों का निरीक्षण करना आसान नहीं है। यह कार्य केवल प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकते हैं। अतः, सभी प्रयोज्यों पर इस विधि का सफल प्रयोग नहीं हो सकता ।

कुछ मनोवैज्ञानिक इस विधि पर यह आपत्ति भी आरोपित करते हैं कि इसके द्वारा प्राप्त प्रदत्त निश्चित नहीं होते तथा उन्हें ठीकठीक मापा भी- नहीं जा सकता। इसके अनुसार इस विधि द्वारा मानसिक अनुभूतियों (sensations) का केवल गुणात्मक वर्णन ही संभव है।

इन कमियों के रहते हुए भी इस विधि की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि मानसिक प्रक्रियाओं जैसे संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, प्रतिमा, कल्पना, संवेग, भाव इत्यादि, का अध्ययन अन्तर्निरीक्षण विधि (Introspection method) द्वारा प्राप्त प्रदत्त के अभाव में संभव नहीं । इस प्रकार, इस विधि से मनोवैज्ञानिक अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है। इतना ही नहीं, अपितु मनुष्य की मानसिक अनुभूतियों (sensations) तथा उसके प्रकट व्यवहारों में निश्चित रूप से पारस्परिक संबंध रहता है। इसलिए वस्तुगत निरीक्षण विधि द्वारा मनुष्य के प्रकट व्यवहारों का निरीक्षण कर उसकी अनुभूतियों (sensations) के बारे में भी जाना जा सकता है। अतएवं, अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की कमियों को वस्तुगत निरीक्षण द्वारा पूरा किया जा सकता है।

3.4.2 बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method)-

मनोविज्ञान की यह दूसरी प्रमुख विधि है। व्यवहारवादियों के अनुसार मनोविज्ञान की यही एकमात्र उपयुक्त विधि है। इसमें प्राणी के व्यवहारों का वास्तविक अध्ययन किया जाता है, क्योंकि अध्ययनकर्ता या निरीक्षक प्रयोज्य के व्यवहारों का वस्तुपरक अर्थात् ज्योंत्यों निरीक्षण करता है -का- और इस निरीक्षण से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण कर किसी परिणाम या निष्कर्ष पर पहुँचता है, जिसके सहारे वह किसी सामान्य नियम की स्थापना करता है।

अन्तर्निरीक्षण और बाह्य निरीक्षण, निरीक्षण की ही विधियाँ हैं लेकिन इनमें निरीक्षण करने के तरीके एवं निरीक्षण की जानेवाली विषय-सामग्री का अन्तर है। अन्तर्निरीक्षण में अनुभवकर्ता यानी प्रयोज्य अपनी मानसिक अनुभूतियों (sensations) का स्वयं निरीक्षण करता है और रिपोर्ट देता है जबकि बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) में प्रयोज्य के व्यवहारों का निरीक्षण

कोई दूसरा व्यक्ति (निरीक्षक) करता है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों विधियों के विधेयक भी भिन्न होते हैं। अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) द्वारा व्यक्ति की आत्मगत अनुभूतियों (sensations) , जैसे भाव, प्रतिमा, चिंता, संवेदना आदि मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण किया जाता है, जबकि बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) द्वारा प्रयोज्य की क्रियाओं अर्थात् वह जो कुछ भी प्रकट रूप से करता है, उसका निरीक्षण किया जाता है।

प्राणी के व्यवहार दो प्रकार के होते हैंआन्तरिक तथा बाह्य। -

1. **आंतरिक व्यवहार-** आंतरिक व्यवहार के अन्तर्गत प्राणी के वैसे व्यवहार आते हैं जिनका निरीक्षण खुली नजरों से संभव नहीं है । वे व्यवहार प्राणी के शरीर के अन्दर होते हैं और उन्हें विशिष्ट प्रकार के यंत्रो की सहायता से ही मापा या अध्ययन किया जा सकता है, जैसे हृदय की गति को (stethoscope) से, रक्चचाप को स्फिग्मोमेंनोमीटर (sphygmomanometer) से, मस्तिष्कीय प्रवाहों को एलेक्ट्रोइनसाइफैलोग्राम (electroencephalogram) से मापकर इनकी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।
2. **बाह्य व्यवहार-** बाह्य व्यवहार उन्हें कहते हैं जो शरीर के बाहर होते हैं और जिनका निरीक्षक खुली या नग्न आँखों से निरीक्षण कर सकता है, जैसे मुखाकृति में परिवर्तन, शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन इत्यादि।

बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) द्वारा उपर्युक्त दोनों प्रकार के व्यवहारों का निरीक्षण क्रमबद्ध एवं वस्तुनिष्ट ढंग से किया जाता है। इसीलिए (बाह्य एवं आंतरिक) कुछ मनोवैज्ञानिक इसे 'क्रमबद्ध निरीक्षण' अथवा वस्तुनिष्ठ निरीक्षण की संज्ञा देते हैं।

बाह्य निरीक्षण विधि (external Ovservation method) के प्रकार-

1. बाह्य निरीक्षण दो अलग-अलग परिस्थितियों में अलग- अलग ढंग से किए जाते हैं और तदनुसार इसके दो प्रकार होते हैं- (क) स्वाभाविक निरीक्षण एवं (ख) नियंत्रित निरीक्षण।
2. **स्वाभाविक निरीक्षण की विधि (Method of natural observation)-** निरीक्षण की इस विधि में अध्ययनकर्ता प्राणी के व्यवहारों का निरीक्षण उनके स्वाभाविक वातावरण, जहाँ वे रहते हैं, खेलते हैं, या कोई कार्य करते हैं, में ही करता है। अर्थात् अध्ययनकर्ता अपनी ओर से न तो वातावरण की किसी भी परिस्थिति को नियंत्रित करता है और न किसी प्रकार से हेर-फेर करता है। अर्थात्, प्राणी अपने स्वाभाविक वातावरण में स्वाभाविक रूप से कई प्रतिक्रिया करता है, और निरीक्षक उसका हूबहू निरीक्षण करता है।
3. **नियंत्रित निरीक्षण (Controlled Ovservation) -** नियंत्रित निरीक्षण में प्राणी के व्यवहारों का निरीक्षण नियंत्रित परिस्थिति में किया जाता है, अर्थात् अध्ययनकर्ता कृत्रिम रूप से

वातावरण की किसी परिस्थिति को अपने पूर्वनियोजित ढंग से उत्पन्न या उसकी रचना करता - है। यहाँ अध्ययनकर्ता प्राणी के किसी व्यवहार

4. विशेष पर पड़ने वाले प्रायः हर संभव बात से अवगत रहता है, इसलिए आवश्यकतानुसार उन्हें नियंत्रित करना संभव होता है। इस प्रकार, किसी खास परिस्थिति और उससे संबंधित प्रतिक्रिया का विशुद्ध अध्ययन संभव है, इसलिए इस ढंग से प्राप्त परिणाम व निष्कर्ष सबसे अधिक यथार्थ, विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होते हैं। इस तरह का निरीक्षण प्रयोगशाला में ही संभव है। इसलिए इसे प्रयोगात्मक निरीक्षण भी कहते हैं।

यहाँ हम केवल स्वाभाविक निरीक्षण के बारे में वर्णन करेंगे। नियंत्रित निरीक्षण के बारे में अलग से प्रयोगात्मक विधि के रूप में आगे वर्णन किया गया है।

स्वाभाविक रूप से किए जाने वाले निरीक्षण में निरीक्षक किसी घटना या व्यवहार को उसके स्वाभाविक प्रवाह में बहने देता है और वह जैसा है, ठीक उसी रूप में क्रमबद्ध ढंग से नोट करते जाता है। इस तरह से प्राप्त सामग्री को वह एक खास ढंग से व्यवस्थित करता है और तब उसका विश्लेषण कर किसी नतीजे या निष्कर्ष पर पहुँचता हैं इस प्रकार, इसमें क्रमबद्ध ढंग से प्राणी की स्वाभाविक परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से प्रकट होने वाले व्यवहारों का निरीक्षण किया जाता है।

इसे एक उदाहरण द्वारा समझें-मान लें, कोई मनोवैज्ञानिक स्वाभाविक रूप से यह निरीक्षण करता है कि जो छात्र जितना अधिक अभ्यास करते हैं, वे उतनी ही अधिक सफलता से किसी पाठ या कार्य को सीखते हैं। इस निरीक्षण के फलस्वरूप वह यह निष्कर्ष निकालता है कि सीखने की क्रिया एवं शिक्षण-अभ्यास में निकट का सह-संबंध है। इसी प्रकार कोई अध्ययनकर्ता यह निरीक्षण करता है कि जिन बच्चों के माता पिता उनकी सफलताओं के लिए पुरस्कार देते हैं, वे बच्चे और अधिक सफल होने की कोशिश करते हैं। इस निरीक्षण के आधार पर निरीक्षक यह निष्कर्ष निकालता है कि सफलता के लिए पुरस्कृत करने पर कार्य-अभिरूचि में वृद्धि होती है। ये दोनों निरीक्षण चूँकि स्वाभाविक वातावरण में किए गए हैं, इसलिए इन्हें स्वाभाविक निरीक्षण कहा जाएगा। इसी तरह, कोई मनोवैज्ञानिक किसी बच्चे के स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया का उसके स्वाभाविक वातावरण में ही निरीक्षण करता है तो इस प्रकार का निरीक्षण स्वाभाविक निरीक्षण कहलाएगा।

बाह्य निरीक्षण के गुण-

1. **यह एक वस्तुनिष्ठ अवैयक्तिक विधि है-** बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) द्वारा प्राणी के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इसीलिए इनका निरीक्षण कोई भी व्यक्ति जब चाहे कर सकता है और वह दूसरों के कहने पर नहीं, बल्कि स्वयं जो कुछ भी देखता

है,उसी आधार पर निष्कर्ष निकालता है। अतः अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की तरह ये न तो आत्मनिष्ठ है और न वैयक्तिक। दूसरे शब्दों में ,अध्ययन की यह विधि पक्षपातरहित है क्योंकि प्राणी जो व्यवहार जिस ढंग से करता है, ठीक उसी रूप में निरीक्षक द्वारा उसका निरीक्षण किया जाता है। यह एक वस्तुनिष्ठ विधि है।

2. **परिणाम -सम्बन्धी अध्ययन की संभावना-** इस विधि में परिणाम-संबंधी अध्ययन संभव है। बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) द्वारा प्राप्त आँकड़े परिणाम या संख्याओं के रूप में एकत्र किए जा सकते हैं, जिनका सांख्यिकीय निरूपण किया जा सकता है। इससे मनोविज्ञान का रूप अधिक वैज्ञानिक हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी जटिल परिस्थिति में कोई प्राणी कौन-कौन सी प्रतिक्रियाएँ करता है, गलत एवं सही प्रतिक्रियाओं की बारंबारता क्या है, कितने प्रयासों में गलत क्रियाओं में कमी आती है और कितने प्रयासों के बाद वह सही क्रिया करना सीख लेता है आदि बातों को संख्यात्मक रूप में नोट किया जा सकता है तथा सांख्यिकीय निरूपण कर ठोस एवं यथार्थ निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

3. **बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) का विस्तृत क्षेत्र में उपयोग करना संभव-** इस विधि का उपयोग वयस्क लोगों के अतिरिक्त बालकों, बूढ़ों, साक्षरों, निरक्षरों एवं पशुओं सबके व्यवहारों का निरीक्षण करने हेतु किया जा सकता है। यही नहीं, इस विधि का प्रयोग कर हम सामान्य एवं असामान्य या पागल व्यक्तियों के व्यवहारों का भी निरीक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) की तरह इसका क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत है।

3. एक ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन संभव- इस विधि द्वारा सामूहिक अध्ययन संभव है। इस प्रकार कम ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन किया जा सकता है। इससे समय की बचत होगी। जैसे समूह या भीड़ में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं, जिनके व्यवहारों का निरीक्षण कोई मनोवैज्ञानिक एक साथ कर सकता है। ऐसे निरीक्षण करने की सुविधा के कारण ही आज हम भीड़, दर्शक मंडली, जनता आदि का अध्ययन करने लगे हैं।

<u>बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) के दोष-</u>

बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) के उपर्युक्त गुणों के आधार पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई दोष या त्रुटि नहीं। सच्चाई तो यह है कि इस विधि में भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ है जिनके कारण मनोवैज्ञानिक केवल इसी विधि पर निर्भर नहीं रह सकते। इस विधि की निम्नलिखित त्रुटियाँ महत्वपूर्ण है-

1. **निरीक्षक की पूर्वधारणा का प्रभाव-** इस विधि की सबसे महत्वपूर्ण त्रुटि यह है कि निरीक्षक की पूर्व धारणा का प्रभाव निरीक्षण के निष्कर्षों पर पड़ता है। अर्थात् निरीक्षक की व्यक्तिगत धारणाओं, उसके सिद्धान्तों या विश्वास का असर निरीक्षण से प्राप्त तथ्यों पर पड़ता है। फलतः निरीक्षण के पक्षपातपूर्ण होने की संभावना बढ़ जाती है और अध्ययन की विश्वसनीयता घट जाती है।
2. **कारण-कार्य का अध्ययन कठिन-** बाह्य निरीक्षण द्वारा प्राणी के केवल प्रकट व्यवहारों का ही अध्ययन किया जाता है। लेकिन, केवल प्रकट व्यवहारों का अध्ययन कर किसी की मानसिक अवस्था का सहीसही ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। प्राणी के अनेक व्यवहार दोहरे अर्थ - वाले होते हैं, जैसे किसी की आँखों से आँसू निकलते हुए देखकर-यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी मानसिक अवस्था दुःख की है या सुख की क्योंकि दोनों अवस्थाओं में आँसू निकलते हैं। अतः केवल चिल्लाने की क्रिया का निरीक्षण कर यह नहीं कहा जा सकता कि चिल्लाने वाला भय के कारण चिल्ला रहा है या क्रोध के कारण। उसकी मनोदशा को जाने बगैर ही निश्चयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष निकाल पाना सही नहीं है। यही कारण है कि निरीक्षण विधि में प्राणी जो करता है, केवल उसी का अध्ययन किया जाता है और प्राणी क्यों करता है और उसे किसी प्रकार की अनुभूति होती है, इसका अध्ययन इस विधि से संभव नहीं है।

3. स्वाभाविक परिस्थिति में किए गए अध्ययन में नियत्रंण का अभाव- इस विधि पर यह दोषारोपण किया जाता है कि यह निरीक्षण स्वाभाविक परिस्थिति में किया जाता है, और स्वाभाविक परिस्थिति में अनेक अज्ञात कारण होते हैं जिनका प्रभाव प्राणी के व्यवहार विशेष पर पड़ता है, परन्तु निरीक्षक उन्हें नियंत्रित नहीं कर पाता है। अतः प्राणी का व्यवहार किनकिन - बातों से विशेष प्रभावित हुआ है, यह ठीकठीक कहना संभव नहीं होगा। उदाहरण के लिए-, मान लें कोई बालक सांप देखकर डरने की प्रतिक्रिया करता है। अब यह कैसे कहा जा सकता हैं कि बालक सांप के काटे जाने की संभावना से डर रहा है या सांप की टेढ़ीमेंढ़ी चाल से। इस दोष के - कारण बाह्य निरीक्षण के आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

4. **हर तरह के व्यवहार का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण संभव नहीं-** यों तो इस विधि द्वारा अनेक प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है, फिर भी कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं जिसका निरीक्षण वस्तुनिष्ठ ढंग से नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए , पतिपत्नी के गुप्त व्यवहारों का अध्ययन निरीक्षण - विधि द्वारा नहीं किया जा सकता। ऐसे व्यवहारों का अध्ययन दूसरे लोगों की 'रिपोर्ट' अथवा पशुओं के यौन व्यवहार के निरीक्षण पर निर्भर करेगा।

5. **निरीक्षक की उपस्थिति से स्वाभाविक प्रतिक्रिया की उत्पत्ति में कठिनाई-** कभीकभी - निरीक्षक को निरीक्षण करने में एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह होती है कि उसके बाहरी व्यक्ति होने के ीरीक्षक को निरीक्षण करने में एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह होती है कि उसके बाहरी व्यक्ति होने के कारण उसकी उपस्थिति में प्राणी अपनीस्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रकट करने में संकोच करता है। फलतः यह अपने स्वाभाविक व्यवहार को अस्वाभाविक रूप में बदल देता है। यह दोषारोपण बहुत अंशों में

सही प्रतीत होता है क्योंकि अकेले में व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है,दूसरों की उपस्थिति में ठीक वैसा ही व्यवहार नहीं करता।

हालांकि बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method) के संबंध में कई त्रुटियाँ बतलाई गई हैं, फिर भी मनोविज्ञान की यह एक उपयुक्त विधि है। ऊपर जिन त्रुटियों की चर्चा की गई है उनमें अधिकतर त्रुटियाँ विधि की नहीं है, बल्कि इस विधि के उपयोग करने में होने वाली कठिनाईयों की हैं, जिन्हें दक्ष एवं अनुभवी निरीक्षक दूर करके यथार्थ एवं विश्वसनीय निरीक्षण कर सकता है।

3.5 प्रयोगात्मक विधि

प्रयोगात्मक विधि भी निरीक्षण की ही एक विधि है। इस विधि द्वारा नियंत्रित वातावरण या परिस्थिति में अध्ययन किया जाता है। प्रयोग किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन की सर्वश्रेष्ठ विधि होती है क्योंकि प्रयोग द्वारा प्राप्त तथ्य एवं परिणाम सर्वाधिक प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं वैध या यथार्थ होते हैं। मनोविज्ञान के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रयोगात्मक विधि का ही रहा है। इस विधि में प्राणी के व्यवहारों का क्रमबद्ध अध्ययन प्रयोग के आधार पर किया जाता है प्रयोग नियंत्रित अवस्था में किए जाने वाले क्रमबद्ध निरीक्षण को कहते हैं। यह निरीक्षण पूर्वानियोजित योजना के अनुसार किया जाता है। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिक इसे पूर्वनियोजित निरीक्षण के नाम से भी पुकारते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रयोगकर्ता पहले से ही प्रयोग का विषय, प्रयोगात्मक समस्या एवं प्रयोग की सम्पूर्ण प्रक्रिया

तय कर लेता है तब निरीक्षण करता है। किसी भी प्रयोग में दो व्यक्तियों का होना जरूरी है - प्रयोज्य। जो प्रयोगकर्ता है वह पूर्वनिश्चित एव (ख) प्रयोगकर्ता एवं(क)पूर्वनिर्धारित अवस्था में किसी स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) (variable)के प्रयोज्य की अनुभूतियों (sensations) एवं व्यवहारों पर पड़ने वाले प्रभावों का निरीक्षण वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष ढंग से करता है। निरीक्षण हेतु प्रयोगकर्ता आवश्यकतानुसार विशिष्ट प्रकार के यंत्रों एवं सामग्री का भी उपयोग करता है और इस तरह से प्राप्त तथ्यों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर ठोस एवं प्रामाणिक परिणाम प्राप्त करता है जिसके आधार पर वह प्राणी के व्यवहारों से संबंधित नियमों एवं सिद्धान्तों की स्थापना एवं व्याख्या करता है। प्रयोग कैसे किया जाता है, यह जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि परिवर्त्य (variable)या चर क्या है?

3.5.1 परिवर्त्य (variable)या चर-

परिवर्त्य (variable)या चर उन परिस्थितियों या घटनाओं को कहते हैं, जो सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहते। अर्थात, वे प्रतिक्षण बदलते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि 'परिवर्त्य' वे हैं, जो बदलते रहते हैं। यह बदलाव या परिवर्तन घटनाओं के प्रकार या उसके परिणाम अथवा सत्ताकाल में

होता हैं, जैसेप्रकाश -, ताप, समय, मौसम, शोरगुल श्वास लेने की क्रिया इत्यादि में परिवर्तन का होना। - रुककर-गुल की अवस्था में उत्पन्न आवाज निरंतर रुक-उदाहरण के लिए शोरगुल को लें। शोर, थोड़े समय के लिए या अधिक समय के लिए हो सकती है। इसी तरह श्वास की क्रिया भी एक परिवर्त्य (variable)है, क्योंकि यह नियमित या अनयिमित, धीमी या जल्दीजल्दी गति की हो सकती है। अस्तु-, परिवर्त्य (variable)से हमारा तात्पर्य प्राणी या उसके वातावरण की उन परिस्थितियों व घटनाओं से है, जिनके प्रकार एवं परिणाम सदा एक जैसे नहीं रहते, वे बदलते रहते हैं अथवा वे विभिन्न रूपों या प्रकारों के होते हैं। प्रयोग में प्रयोगकर्ता किन्हीं दो या दो से अधिक परिवर्त्यों के बीच के आपसी संबंधों की खोज करता है अथवा किन्हीं दो परिवर्त्यों के बीच के खोजे हुए संबंधों को पुनः जाँचकर संपुष्ट करता है। इस प्रकार प्रयोग दो प्रकार के होते हैं अन्वेषणात्मक एवं संपुष्टात्मक। जैसे -, प्रयोगकर्ता यदि वह जानने की कोशिश करता है कि प्रकाश की तीव्रता और रंगों के प्रत्यक्षीकरण में क्या संबंध है, तापक्रम में वृद्धि होने पर गर्मी की संवेदना में क्या अन्तर पड़ता है, सफलता या विफलता की अनुभूति अथवा प्रेरणा का किसी कार्यसंपादन की कुशलता पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि-, तो इस प्रकार के प्रयोगों को 'अन्वेषणात्मक' प्रयोग कहते हैं। लेकिन, जब प्रयोगकर्ता इस तथ्य की जाँच करता है कि अभ्यास के फलस्वरूप कार्यसंपादन की कुशलता में वृद्धि होती है या लगातार प्रयास करने के फलस्वरूप थकान - होती है तब इस प्रकार के प्रयोग को संपुष्टात्मक प्रयोग कहते हैं। संपुष्टात्मक प्रयोग में पहले से स्थापित स्थापित तथ्य की पुनः जांच की जाती है।

3.5.2 परिवर्त्यों के प्रकार-

1. विभिन्न परिवर्त्यों के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध रहता है। अर्थात् एक परिवर्त्य (variable)दूसरे परिवर्त्य (variable)पर आश्रित रहता है। अतः किसी एक परिवर्त्य (variable)की स्थिति में किसी प्रकार का हेर-फेर या बदलाव होता है तो इसका प्रभाव 'आश्रित या निर्भर रहने वाले परिवर्त्य' पर भी पड़ता है। जैसे-शिक्षण-विषय की लंबाई या अभ्यास की मात्रा में वृद्धि या कमी होने का असर सीखने की क्रिया पर पड़ता है। अतएवं, सीखने की क्रिया विषय की लंबाई या शिक्षण-प्रयास की मात्रा पर निर्भर करता है और इस प्रकार इन दोनों प्रकार के परिवर्त्यों के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से परिवर्त्यों को तीन वर्गों में बाँटा जाता है।
2. आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)
3. स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable)
4. संगत या बहिरंग परिवर्त्य

1. आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)-:

जो परिवर्त्य (variable)किसी दूसरे परिवर्त्य (variable)पर आश्रित होते हैं उन्हें आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableकहते हैं । ऐसे परिवर्त्य (variable)दूसरे परिवर्त्यो (खासकर स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) में परिवर्तन या बदलाव लाये जाने पर अपनी आश्रितता के कारण स्वतः परिवर्तित हो जाते हैं। यानी, ऐसे चरों के प्रकार या परिणाम में किसी प्रकार का बदलाव या परिवर्तन इससे संबंद्ध दूसरे परिवर्त्य (variable)(स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable)) में परिवर्तन होने पर निर्भर करेगा। इसी निर्भरता के गुण के कारण इसे आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableकहते हैं।

उदाहरण के लिए, औद्योगिक निस्पादन एक आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableहै, क्योंकि यह औद्योगिक वातावरण, कर्मचारी की योग्यता, अभिप्रेरणा आदि परिवर्त्यों पर निर्भर करता है।

प्रयोगों में प्रायः आश्रित परिवर्त्यों के संबंध में प्रयोगकर्ता भविष्यवाणी करने की कोशिश करता है। जैसेयदि कोई प्रयोगकर्ता प्रयोग द्वारा निष्पादन पर तापमान के प्रभाव का अध्ययन करता है तो वह - निष्पादन पर तापमान के पड़ने वाले प्रभाव की भविष्यवाणी करता है तथा इसी भविष्यवाणी की सत्यता को वह प्रयोग करके सिद्ध करता है। अतः, निष्पादन पर तापमान का जो प्रभाव पड़ेगा, वही वहाँ आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableहोगा।

2. स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable)-:

जो परिवर्त्य (variable)किसी दूसरे परिवर्त्य (variable))आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)पर स्वतंत्र रूप से अपना प्रभाव डालते हैं (, उन्हें स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) (variable)कहते हैं। इन्हें स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) (variable)इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये स्वतंत्र रूप से किसी आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableपर अपना प्रभाव डालते हैं। प्रयोग की अवधि में इनकी स्थिति में परिवर्तन लाने या हेरतोड़ करने हेतु प्रयोगकर्ता -फेर अथवा जोड़- स्वतंत्र रहता है और जोड़ तोड़ करके-आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)पर पड़ने वाले प का निरीक्षण या अध्ययन करता है। इस प्रकार, प्रयोग हेतु चुने गए स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) (variable)को नियंत्रित नहीं किया जाता। लेकिन, किसी आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableको प्रभावित करने वाले अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यों को नियंत्रित रखा जाता है। उदाहरण के लिए, निष्पादन पर तापमान के प्रभाव को लें। चूँकि यहाँ तापमान का प्रभाव निष्पादन पर पड़ता है तथा प्रयोगकर्ता इसकी स्थिति में परिवर्तन लाकर या हेरजैसे) फेर करके-, एक अवस्था में कम तापमान रखकर और दूसरी अवस्था में अधिक तापमान रखकरइसके प्रभा (व का अध्ययन करता है, इसलिए यहाँ तापमान एक स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable)है।

किसी प्रयोग में स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) को जिस स्थिति में रखा जाता है उसके अनुसार इसके दो रूप होते हैं -1. प्रयोगात्मक परिवर्त्य (variable)एवं 3. नियंत्रित परिवर्त्य। प्रयोगात्मक परिवर्त्य (variable)से तात्पर्य वैसे स्वतंत्र परिवर्त्यों से है जिनके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है तथा जिनमें प्रयोगकर्ता जोड़फेर करता है-तोड़ या हेर-, उसे प्रयोगात्मक परिवर्त्य (variable)कहते हैं। किसी एक प्रयोग में आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable) पर प्रायः एक या दो परिवर्त्य (variable)के प्रभावों का ही अध्ययन किया जाता है जबकि उक्त आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableपर कई स्वतंत्र परिवर्त्यों का प्रभाव पड़ सकता है।

प्रयोग की अवधि में ऐसे स्वतंत्र परिवर्त्यों को (जिनके प्रभाव का अध्ययन नहीं करना है) नियंत्रित या स्थिर रखा जाता है इसलिए इन्हें नियंत्रितपरिवर्त्य (variable)कहते हैं। ऐसे परिवर्त्यों को 'संगत या 'बहिरंग' परिवर्त्य (variable)की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableपर इनके प्रभाव संगत होते है। परन्तु, चूँकि प्रयोगकर्ता का उद्देश्य इन संगत परिवर्त्यों के प्रभावों का अध्ययन करना नहीं होता, इसलिए ऐसे संगत परिवत्यों को बहिरंग परिवर्त्य (variable)के नाम से पुकारा जाता है। प्रयोग की अवधि में ऐसे परिवर्त्यों को नियंत्रित रखा जाता है, ताकि आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variable)पर इनका कोई असर न पड़े।

3. संगत या बहिरंग परिवर्त्य-

वहिरंग परिवर्त्य (variable)वैसे परिवर्त्य (variable)है जिन्हें यदि प्रयोगकर्ता द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाए तो वे प्रयोगात्मक परिस्थिति में स्वतंत्र चर के साथ मिलकर आश्रित चर को प्रभावित कर सकते है। जैसे- निष्पादन पर तापमान के प्रभाव का अध्ययन करने के क्रम में तापमान प्रयोगात्मक परिवर्त्य (variable)के रूप में प्रयुक्त किया जाएगा, और प्रयोगकर्ता एक अवस्था में कम तापमान पर निष्पादन का अवलोकन करेगा, जबकि दूसरी अवस्था में अधिक तापमान पर। परन्तु, निष्पादन पर कुछ अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यों के भी प्रभाव पड़ेगें, जैसे- शोरगुल, आद्रता, पुरस्कार, आयु इत्यादि। आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableपर इन स्वतंत्र परिवर्त्यो के प्रभावों को पड़ने से प्रयोगकर्ता रोकेगा अथवा उन्हें नियंत्रित करेगा। इस प्रकार, ये नियंत्रित परिवर्त्य (variable)ही संगत या बहिरंग परिवर्त्य (variable)कहे जाएँगे।

बहिरंग परिवर्त्य (variable)भी तीन तरह के होते हैं-

i. प्राणी या प्रयोज्य से संबंधित
ii. वातावरण या परिस्थिति से संबंधित
iii. प्रयोग की विभिन्न अवस्थाओं के क्रम से संबंधित।

इस प्रकार प्रयोग नियंत्रित अवस्था में पूर्वनिश्चित एवं पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार किया जाता है। अर्थात प्रयोग प्रारम्भ से पूर्व प्रयोगकर्ता प्रयोग-संबंधी पूर्ण विवरण पहले से ही तैयार कर लेता है। प्रयोग की योजना बनाते समय प्रयोगकर्त्ता निम्नलिखित दो बातों पर विशेष ध्यान देता है - (क) प्रयोग की समस्या का चुनाव एवं (ख) प्रयोग की योजना का चुनाव। प्रयोग की समस्या चुनाव- प्रयोगात्मक समस्या सुनिश्चित कर लेने के बाद प्रयोगकर्ता प्रयोग की एक पूरी योजना बना लेता है। इस योजना में यह प्रयोग की सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओं का विवरण तैयार करता है, जैसे- स्वतंत्र परिवर्त्य (Idependent variable) (variable)की स्थिति में परिवर्तन लाने या हेर-फेर करने की क्रमबद्ध योजना , आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableको प्रभावित करने वाले अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यो को किस प्रकार नियंत्रित किया जाएगा, आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableको किस प्रकार मापा जाएगा आदि। इसे उदाहरण द्वारा समझें-

मान लें, कोई मनोवैज्ञानिक जानना चाहता है कि अभ्यास का, सीखने की क्रिया पर क्या पड़ता है, । यह 'प्रयोग' इस प्रकार किया जाएगा । सबसे पहले प्रयोगकर्ता को यह विचार कर लेना होगा कि सीखने की क्रिया पर 'अभ्यास' के अतिरिक्त किनकिन बातों- का प्रभाव पड़ता है। ध्यान देने पर मालूम होगा कि अभ्यास के अतिरिक्त थकान, स्वास्थ्य, शिक्षणविधि-, शिक्षणविषय पर किए हुए कार्य के - परिणाम का ज्ञान, पुरस्कार अथवा दंड, इत्यादि का भी प्रभाव सीखने की क्रिया पर पड़ता है। इस प्रयोग में प्रयोगकर्ता को केवल अभ्यास का प्रभाव मालूम करना है। अतः अभ्यास के अतिरिक्त अन्य सभी प्रभावक तत्वों को वह नियंत्रित रखेगा। यह नियंत्रण इन परिवर्त्यों को समानावस्था में स्थिर रखकर किया जाएगा। इसीलिए इन्हें नियंत्रित परिवर्त्य (variable)अथवा स्थिर परिवर्त्य (variable)कहते हैं। इसके बाद प्रयोज्य को एक शिक्षणकार्य दिया जाएगा जो नवीनतम होगा। अभ्यास हेतु प्रयोज्य को उसी काम - मान लें -बार करने को दिया जाएगा-को बार20 बार । सभी प्रयासों में प्रयोज्य से उसी काम को एक ही तरह से कराया जाएगा। इस प्रकार, प्रयोग की पूरी अवधि में शिक्षण कार्य और सीखने की विधि समान - रखते हुए निंयत्रित किया जाएगा। थकान के प्रभाव को दूर करने के लिए ठीक आधे प्रयास के बाद अर्थात्)10 प्रयासों के बादथोड़ी देर के लिए विराम दिया जाएगा। प्रत्येक प्रयास में प्रयोज्य द्वारा उक्त (संपादन में होने वाली त्रृटियों या-कार्य को करने में लगे समय और कार्यअशुद्धियों एवं प्रयोज्य के व्यवहारों को प्रयोगकर्ता वस्तुनिष्ठ निरीक्षण करके नोट करता जाएगा। निश्चित प्रयास के बाद प्रयोज्य का अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन भी लिया जाएगा।

इस प्रकार प्रयोगकर्ता को दो प्रकार के 'प्रदत्त' प्राप्त होंगे (क) वस्तुनिष्ठ प्रदत्त एवं (ख) आत्मनिष्ठ प्रदत्त। वस्तुनिष्ठ प्रदत्त बाह्य रूप से निरीक्षण के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री होती है, जैसे विभिन्न प्रयासो में लगा समय, अशुद्धियों एवं प्रयोज्य का व्यवहार। आत्मनिष्ठ प्रदत्त प्रयोज्य के आत्मनिरीक्षण

अर्थात् 'अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन' पर आधारित होता है। इस तरह के प्रदत्त से प्रयोज्य की मानसिक अवस्था का पता चलता है।

इस प्रकार प्राप्त सामग्री की सहायता से सीखने की क्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने हेतु आवश्यक है कि प्राप्त सामग्री का निरूपण अथवा विश्लेषण किया जाए। यह निरूपण दो प्रकार से होगा- सांख्यिकीय या परिणाम-संबंधी निरूपण एवं गुण-संबंधी निरूपण। गुण-संबंधी निरूपण अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन पर आधारित होगा, जबकि परिणाम संबंधी निरूपण के लिए सांख्यिकीय विधि का उपयोग किया जाएगा। इन दोनों प्रकार के निरूपणों के बाद ही सीखने की क्रिया पर अभ्यास का क्या प्रभाव पड़ता है, इस संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। साथ ही, सही तथा विश्वसनीय निष्कर्ष के लिए केवल एक व्यक्ति पर किया गया प्रयोग पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए आवश्यक है कि इसी प्रयोग को अनेक व्यक्तियों पर (जो हर दृष्टि से समान हो) किया जाए और यदि सभी में करीब-करीब एक ही तरह का परिणाम प्राप्त हो तो इस प्रयोग से जो निष्कर्ष निकलेगा, उसकी सत्यता एवं विश्वसनीयता पर भरोसा किया जा सकता है।

3.5.3 प्रयोगात्मक विधि के गुण-

प्रयोग एवं उसकी प्रक्रियाओं के वर्णन से स्पष्ट है कि प्रयोगात्मक विधि एक अत्यन्त ही उपयोगी एवं श्रेष्ठ विधि है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. प्रयोगात्मक विधि में वस्तुनिष्ठ निरीक्षण द्वारा व्यक्ति के व्यवहार एवं अन्तर्निरीक्षण द्वारा उसकी मानसिक अनुभूतियों (sensations) दोनों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार-, इस विधि में बाह्य निरीक्षण एवं अन्तर्निरीक्षण दोनो विधियों का समन्वय है। फलस्वरूप, मनुष्य के अनुभव एवं व्यवहार दोनों का अध्ययन संभव है। अतः हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की विषय वस्तु का - सही अध्ययन इसी विधि द्वारा संभव है।
2. चूंकि प्रयोग नियंत्रित अवस्था में किया जाता है, इसलिए इस विधि से प्राप्त परिणाम एवं निष्कर्ष अत्यधिक सही, वैध एवं विश्वसनीय होते है, क्योंकि प्राणी के व्यवहार को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों को नियंत्रित रखकर उन्हें प्रभावहीन बना दिया जाता है।

3. इस विधि की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अध्ययन की परिस्थिति को जब और जितनी बार चाहें हूबहू दुहरा कर प्राप्त परिणाम की सत्यता को बारबार जाँच सकते हैं। अतः-, इस विधि से प्राप्त परिणामों को सत्यापित करने की पूरी गुंजाइश है, जो वैज्ञानिक अध्ययन का एक प्रधान गुण माना जाता है।

4. प्रयोगात्मक विधि से प्राप्त प्रदत्त गुणात्मक एवं परिणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं,अतः इनके आधार पर मानव व्यवहार से संबद्ध ठोस निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । तथा उनके संबंध में सामान्य नियम भी बनाए जा सकते हैं।

5. इस विधि द्वारा प्राप्त परिणाम को अधिक विश्वसनीय एवं सार्थक बनाने हेतु समान अवस्था में एक से अधिक व्यक्तियों पर प्रयोग किए जाते हैं और जब सभी से करीबकरीब समान प्रदत्त प्राप्त - होते हैं तब प्राप्त परिणाम को विश्वसनीय एवं प्रामाणिक माना जाता है।

6. इस विधि का उपयोग सामान्य, बच्चे, प्रौढ़ एवं बूढे सभी प्रकार के व्यक्तियों एवं पशुओं पर उनकी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं के अध्ययन हेतु किया जा सकता है। अतः इसमें व्यापकता का गुण है।

7. यह एक सर्वाधिक वैज्ञानिक विधि है क्योंकि इसमें एक वैज्ञानिक विधि के सारे गुण पाये जाते हैं।

8. इस विधि की महत्ता इससे भी प्रमाणित हो जाती है कि किसी भी विचार या सिद्धान्त के पक्ष में चाहे जितने भी प्रमाण हों, यह सिद्धान्त या विचार तब तक प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रयोगात्मक निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्य उसके पक्ष में न मिलें।

3.5.4 प्रयोगात्मक विधि की सीमाएँ-

प्रयोगात्मक विधि के उपर्युक्त गुणों के बावजूद इस विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं-

1. प्रयोग, प्रयोगशाला में प्रयोगकर्ता द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न की गई परिस्थितियों के किया जाता है जो अस्वाभाविक रहती है। अतः प्रयोज्य द्वारा किया गया व्यवहार भी बनावटी होता है। फलतः ऐसे व्यवहारों का वास्तविक जीवन से स्पष्ट संबंध नहीं रहता। लेकिन, यह आरोप उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रयोग इस तरह से किया जाता है कि प्रयोज्य को इस बात का पता नहीं लगता कि प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई परिस्थिति कृत्रिम अथवा बनावटी है। प्रयोगकर्ता यदि कुशल और अनुभवी हो तो इस प्रकार की त्रृटि को आसानी से दूर करके प्रयोग कर सकता है।
2. प्रयोगात्मक विधि के संबंध में एक कठिनाई यह बाताई जाती है कि सभी प्रकार के प्रयोग मनुष्यों पर नहीं किए जा सकते, क्योंकि न तो आवश्यकता के अनुसार वे प्रयोग हेतु आसानी से उपलब्ध होते हैं और न पूरी सफलता के साथ उन्हें नियंत्रित ही किया जा सकता है। अतः इसकी उपयोगिता सीमित है। परन्तु यह कहना उचित नहीं। यह कठिनाई पशुओं पर अध्ययन करके दूर की जा सकती है और चूँकि पशुओं और मनुष्यों के व्यवहारों में काफी समानता मिलती है, अतः पशुओं पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों को मनुष्यों पर भी लागू किया जा सकता है। डार्विन के विकासवाद से यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

3. कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो यह भी कहना है कि मनुष्य की सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक अध्ययन संभव नहीं है जैसे स्वप्न, अचेतन मानसिक प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन प्रयोगशाला में संभव नहीं है। लेकिन, यह आपत्ति भी आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से उचित नहीं जंचती। आजकल तो अचेतन एवं स्वप्न मानसिक प्रक्रियाओं का प्रयोगात्मक अध्ययन होने लगा है।

4. इस विधि के बारे में एक आपत्ति यह भी है कि हर प्रकार की परिस्थितियों को प्रयोगशाला में सृजित नहीं किया जा सकता। जैसे, भीड़ औद्योगिक अशांति, जनमत, प्रचार आदि की परिस्थितियों को प्रयोगशाला के सीमित दायरे में सृजित करना और इन परिस्थितियों में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन करना कठिन है। किन्तु आजकल मनोवैज्ञानिक इस तरह की अवस्थाओं का अध्ययन करने हेतु दूसरी विधि का उपयोग करने लगे हैं जिसे क्षेत्रीय अध्ययन कहते हैं। क्षेत्रीय अध्ययन का मूल आधार स्वाभाविक निरीक्षण होता है। अतः इस कठिनाई का निराकरण अब संभव हो गया है।

5. उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विधि की एक और कठिनाई यह बताई जाती है कि यह खर्चीली विधि है तथा इसके लिए दक्ष एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनका अभाव है। लेकिन, इस कठिनाई के आलोक में प्रयोगात्मक विधि को दोषपूर्ण बताना उचित नहीं है। इसके लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध कराए जाने और प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार करने की आवश्यकता पर बल देने की जरूरत है।

3.6 सारांश

- किसी विज्ञान द्वारा अपनी विषयवस्तु से सम्बद्ध आवश्यक सामग्री करने का जो तरीका इस्तेमाल - किया जाता है, उसे ही अध्ययन की विधि कहते हैं।
- किसी वैज्ञानिक विधि की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं-वस्तुनिष्ठता (objectivity), सत्यापन-गुण, नियंत्रित परिस्थिति, विश्वसनीयता एवं वैधता(Reliability and validity), क्रमबद्धता (Serialization) एवं सांख्यिकीय विश्लेषण की संभावना।
- अवलोकन किसी भी विज्ञान की एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक विधि है जिसमें अवलोकर्ता सूचना के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित रहता है तथा अपने शोध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करता है। यह सहभागी और असहभागी दोनों ही प्रकार का होता है।
- मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन हेतु अवलोकन विधि के अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण विधियों का उपयोग किया जाता है -अन्तर्निरीक्षण विधि (introspection method) एवं बाह्य निरीक्षण विधि (external observation method)।

- अन्तःनिरीक्षण का तात्पर्य अपने अन्दर देखना या झांकना होता है, यानी व्यक्ति जब अपनी ही मानसिक क्रियाओं चेतन)अनुभूतियों (sensations) का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे (में रिपोर्ट देता है तो उसके अन्तःनिरीक्षण कहते हैं।
- बाह्य निरीक्षण में अध्ययनकर्ता या निरीक्षक प्रयोज्य के व्यवहारों का वस्तुपरक अर्थात् ज्यों-का-त्यों निरीक्षण करता है। इसमें प्राणी का व्यवहार आन्तरिक या बाह्य कुछ भी हो सकता है। बाह्य निरीक्षण स्वाभाविक या नियंत्रित हो सकता है।
- प्रयोगात्मक विधि किसी भी विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ विधि है जिसके द्वारा नियंत्रित परिस्थिति के किसी घटना का क्रमबद्ध निरीक्षण किया जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोग में एक प्रयोगकर्ता और एक प्रयोज्य होता है।
- प्रयोग में परिवर्त्य (variable)या चर का अध्ययन किया जाता है। प्रयोगकर्ता स्वतंत्र चर को हस्तचालित करता है तथा उसके प्रभाव आश्रित चर पर निरीक्षित करता है। वैसे स्वतंत्र चर जो बहिरंग चरों का कार्य करते हैं प्रयोगकर्ता द्वारा नियंत्रित कर लिया जाता है।

3.7 शब्दावली

- **अन्तःनिरीक्षण**: जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे में रिपोर्ट देता है, तो उसे अन्तःनिरीक्षण कहते हैं।
- **अनुनिरीक्षण**: किसी मानसिक क्रिया का निरीक्षण उसी समय न करके जब वह क्रिया समाप्त हो जाती है तब किया जाता है, तो उसे अनुनिरीक्षण कहते हैं।
- **प्रयोग**: किसी नियंत्रित परिस्थिति में किया गया क्रमबद्ध निरीक्षण ही प्रयोग कहलाता है।
- **परिवर्त्य**: वातावरण में उपस्थित वे सभी वस्तुएँ परिस्थितियाँ या घटनाएँ जो सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहती, जिनमें परिवर्तन होता रहता है तथा जिन्हें मापा जा सकता है, परिवर्त्य (variable)कहलाती है।

3.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. इनमें से कौन एक वैज्ञानिक विधि की विशेषता नहीं है -

   अ(वस्तुनिष्ठता (objectivity) ब(क्रमबद्धता (Serialization)

   स(अनियंत्रित परिस्थिति द(सत्यापन

2. जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करके उसके बारे में रिपोर्ट देता है तो उसे कहते हैं-

   अ(अन्तः निरीक्षण ब(बाह्य निरीक्षण

स(अवलोकन द(प्रयोग

3. जिस चर को किसी प्रयोग के दौरान प्रयोगकर्ता स्वयं हस्तचालित करता है उसे कहते हैं-

अ(स्वतंत्र चर ब(आश्रित चर

स(नियंत्रित द(संगत चर

उत्तर: 1) स 2) अ 3) अ

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान- डा0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास
- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोर्ट ब्रेस, लंदन
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अध्ययन विधि से आप क्या समझते हैं? किसी वैज्ञानिक विधि की क्या विशेषता होती है?
2. अवलोकन क्या है? सहभागी एवं असहभागी अवलोकन में क्या अन्तर है?
3. ''मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में अन्तःनिरीक्षण विधि का उपयोग नितांत आवश्यक है।'' इस कथन की पुष्टि करें।
4. वस्तुनिष्ठ निरीक्षण विधि के गुण एवं दोषों का वर्णन करें।
5. अन्तःनिरीक्षण विधि के गुण एवं दोषों पर प्रकाश डालें।
6. मनोविज्ञान की प्रयोगात्मक विधि के स्वरूप, गुण एवं दोषों की विवेचना करें।
7. परिवर्त्य (variable)क्या है? इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
8. अन्तर स्पष्ट करें-

   i.स्वतंत्र चर एवं आश्रित चर।

   ii.अन्तःनिरीक्षण एवं अनुनिरीक्षण।

इकाई 4. चिंतन का स्वरूप एवं प्रक्रिया(Nature and Process of Thinking)

4. 1 प्रस्तावना
4. 2 उद्देश्य
4. 3 चिन्तन का स्वरुप
4. 3.1 चिन्तन की परिभाषा
4. 3.2 चिन्तन में भाषा का महत्व
4. 3.3 चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका
4. 4 चिन्तन की प्रक्रिया
4. 5 सारांश
4. 6 शब्दावली
4. 7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
4. 8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

4. 1 प्रस्तावना

चिन्तन एक ऐसी मध्यस्थ प्रक्रिया है जो किसी समस्या या उद्दीपक तथा उसके समाधान या सही अनुक्रिया के मध्य होती है, दूसरे शब्दों में, इसे वातावरण से मिलने वाली सूचनाओं का मानसिक जोड़-तोड़ कहा जा सकता है। मनुष्य की प्रगति मुख्यतः चिन्तन पर आधारित है। चिन्तन की सहायता से व्यक्ति अनेक समस्याओं का समाधान करता है। चिन्तन समस्या समाधान में ही नहीं अपितु प्रत्येक प्रकार के अधिगम में महत्वपूर्ण है। लोग प्रायः कहते सुने जाते हैं, "रुको कुछ सोच रहा हूँ", "जरा सोचने दो तो बोलूँ", "मैं ऐसा नहीं सोचता", "तुम्हारी सोच तथा हमारी सोच में अन्तर है"। ऐसे प्रश्न हमारे दैनिक जीवन में होते रहते है, इन प्रश्नो का सम्बन्ध चिन्तन से होता है। इस इकाई में हम चिन्तन का स्वरुप, उसकी प्रक्रिया, चिन्तन में भाषा की भूमिका, मानसिक तत्परता की भूमिका आदि पर चर्चा करेंगें ।

4. 2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझने में सक्षम हो सकेगें।

- चिन्तन के स्वरूप को समझाने में सक्षम हो सकेंगे।
- चिन्तन की परिभाषाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- चिन्तन में भाषा के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे तथा उसकी आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
- चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका की विवेचना कर सकेंगे।

- चिन्तन की प्रक्रिया को जान सकेंगे।

4. 3 चिन्तन का स्वरुप

चिन्तन का शुभारम्भ किसी समस्या से होता है, इसमें प्रतीकों का भी उपयोग होता है। इसमें प्रतीकों, प्रतिमाओं आदि का मानसिक जोड़तोड़ होता है। चिन्तन अव्यक्त या आन्तरिक संज्ञात्मक प्रक्रम है। - इसके द्वारा व्यवहार उत्पन्न या नियंत्रित होता है। ऊपर दिये गये तथ्यों से चिन्तन के स्वरुप की एक झलक तो अवष्य मिलती है परन्तु इसके स्वरुप के बारे में विस्तृत रुप से जानने के लिए हमें उन निष्कर्षो पर भी ध्यान देना होगा जिसे हम्फ्रे)1963) ने चिन्तन पर व्यक्त किये गये अनेकों मनोवैज्ञानिकों के विचारों का विश्लेषण करके बतलाया है। हम्फ्रे ने चिन्तन के स्वरुप के बारे में निम्नांकित तथ्यों को हम लोगों के सामने रखा है।

(1) चिन्तन प्रक्रिया की शुरुआत उस समय होती है जब प्राणी के सामने कोई ऐसी समस्या आती है जिसका वह समाधान करना चाहता है। समस्या से तात्पर्य एक ऐसे परिस्थिति या घटना से होता है जिसमें प्राणी को लक्ष्य पर पहुँचने का रास्ता नहीं दिखलाई पड़ता है।

(2) चिन्तन में समस्या के भिन्नअलग होते हैं-भिन्न पहलूओं को जो समाधान के पहले अलग-, एक साथ संयोजित किया जाता है।

(3) चिन्तन में गत अनुभूति सम्मिलित होती है लेकिन व्यक्ति वास्तव में गत अनुभूति का उपयोग चिन्तन में किस प्रकार करता है, इसे मनोवैज्ञानिक सहीसही ढंग से पता नहीं लगा पाए है।-

(4) चिन्तन में अभिप्रेरणा का भी विशेष महत्व होता है, सच्चाई यह है कि चिन्तन में व्यक्ति का व्यवहार एक निश्चित उद्देश्य की ओर होता है। यही कारण है कि विटेकर)1970) ने कहा है कि "सभी चिन्तन लक्ष्य निर्देशित होते हैं।"

(5) चिन्तन में भाषा के अलावा प्रतीक का भी काफी उपयोग होता है। अनेक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि चिन्तन में द्रष्टि प्रतिमा तथा श्रवण प्रतिमा अन्य दूसरे तरह की प्रतिमाओं की अपेक्षा अधिक होते है। हम्फ्रे)1963) द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त तथ्यो से चिन्तन के स्वरुप का प्रत्येक पहलू स्पष्ट हो जाता है। इसके आधार पर मनोवैज्ञानिको ने यह स्पष्ट रुप से बतलाया है कि चिन्तन एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके सहारे प्राणी किसी समस्या का समाधान करता है।

4. 3.1 चिन्तन की परिभाषा-

चिन्तन को परिभाषा में आबद्ध करना कठिन है वैसे विषय के स्वरुप को रेखांकित करने के उद्देश्य से कुछ परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा सकती है। कागन तथा हेभमैन)1976) ने चिन्तन की एक सर्वश्रेष्ठ तथा व्यापक परिभाषा दी है। इनके अनुसार " प्रतिमाओं, प्रतीको, सम्प्रत्ययों, नियमों एवं अन्य मध्यस्थ इकाइयों के मानसिक जोड़तोड़ को चिन्तन कहा जाता है।-"

सिलभरमैन)1978) ने भी चिन्तन की एक संक्षिप्त परन्तु सटीक परिभाषा दी है। इनके अनुसार "चिन्तन एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो हम लोगो को उद्दीपक तथा घटनाओं के प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व द्वारा किसी समस्या का समाधान करने में मदत करती है।

बेरान)1992) के अनुसार "चिन्तन में संप्रव्ययों, प्रतिज्ञाप्ति तथा प्रतिमाओं का मानसिक जोड़- तोड़ होता है।

इंगलिश और इंगलिश)1980) के अनुसार चिन्तन के तीन मुख्य अर्थ हैं-:

(1) कोई भी प्रक्रिया या कार्य जो मुख्यतः प्रत्याक्षात्मक नहीं है चिन्तन हो सकता है, इसके माध्यम से व्यक्ति किसी परिस्थिती या पदार्थ के पहलू को समझता है।
(2) दूसरे अर्थ में समस्या का समाधान ही चिन्तन है, जिसमें प्रकट पहस्तन और प्रत्यक्षीकरण न होकर मुख्यतः विचार होते है।
(3) तीसरे अर्थ में चिन्तन का अर्थ किसी समस्या में निहित सम्बन्धों का समझना अथवा उस पर विचार करना है।
(4) चिन्तन का अर्थ आन्तरिक और मूक वाणी व्यवहार से भी लगाया जाता है।

आइसनेक तथा उसके साथियों)1972) के अनुसार "कार्यत्मक परिभाषा के रुप में चिन्तन का काल्पनिक जगत में व्यवस्था स्थापित करना है। यह व्यवस्था स्थापित करना वस्तुओं से सम्बन्धित होता है तथा साथ ही साथ वस्तुओं के जगत की प्रतीकात्मकता से भी सम्बन्धित होता है। वस्तुओं में सम्बन्धों की व्यवस्था तथा वस्तुओं में प्रतीकात्मक सम्बन्धो की व्यवस्था का चिन्तन है।

बुडवर्थ एवं श्लासवर्ग)1954) के अनुसार " चिन्तन को संतोषजनक रुप में परिभाषित करना बहुत ही कठिन कार्य है, परन्तु हम यह कह सकते है कि जब प्राणी का अन्वेषणात्मक व्यवहार प्रस्तुत परिस्थिति से दूर हो जाता है तथा स्मृति एवं पूर्व स्थापित संप्रत्ययो का उपयोग किया जाने लगता है तो चिन्तन प्रक्रम घटित हो रहा है।

सिक्करेली)2008) के अनुसार " चिन्तन मस्तिष्क में चलने वाली एक मानसिक प्रक्रिया है, यह किसी सूचना के संगठित करने तथा समझने एवं अन्य किसी को संप्रेषित करने में घटित होती है।

सैन्ट्राक)2005) के अनुसार " चिन्तन वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें सम्प्रत्ययों के निर्माण, समस्याओ के समाधान, क्रान्तिक चिन्तन, तर्कना एवं निर्णयन में सूचनाओं का प्रहस्तन किया जाता है।" चिन्तन में केवल वाचिक चेतना प्रवाह ही सन्निहित नहीं होता है, अपितु जब हम सोचते हैं तो हमारे मस्तिष्क में प्रतिमाओं एवं शब्दों का भी उपयोग होता है।

4. 3.2 चिन्तन में भाषा का महत्व -

चिन्तन में भाषा का क्या महत्व है यह एक विवादास्पद विषय है, इस संबंध में भिन्नभिन्न - भिन्न हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इन सभी विचारों को निम्नांकित तीन भागों -मनोवैाज्ञानिकों के विचार भिन्न

(1) कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि चिन्तन के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा के अभाव में चिन्तन की प्रक्रिया नहीं हो सकती है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा ही निर्धारित तथा प्रभावित होती है। इस तरह के विचार व्यक्त करने वाले मनोवैज्ञानिकों में सापिर तथा उनके शिष्य ओर्फ)1956), ब्रुनर)1964), बर्नस्टीन)1958) आदि का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सापिर की उपकल्पना थी कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया काफी प्रभावित होती है इसका समर्थन ब्रुनर)1964) के प्रयोजगों द्वारा होता हैं। इन्होंने शिशुओं तथा प्राक स्कूली छात्रों पर प्रयोग किया इन बच्चों के चिन्तन की प्रक्रिया तथा संज्ञात्मक विकास अधिक सीमित इसलिए होता है क्योंकि इनमें भाषा पूर्ण रुप से विकसित नहीं होती है, इनके अनुसार 6-7 उम्र से बच्चे सोचने के लिए अच्छी तरह से भाषा का उपयोग प्रारम्भ कर देते हैं। चूंकि प्राक स्कूली बच्चो की उम्र 6 साल से कम होती है और उनमें भाषा का पूर्ण विकास नहीं होता है अतः उनका संज्ञानात्मक विकास विशेषकर चिन्तन की प्रक्रिया ठीक ढंग से नहीं हो पाती है। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि चिन्तन में भाषा की आवश्यकता होती है।

बर्नस्टीन)1958) ने गरीब तथा धनी परिवार के बच्चों के चिन्तन का एक तुलनात्मक अध्ययन किया। इनके अनुसार गरीब बच्चों की भाषा सीमित तथा अविकसित होती है तथा धनी परिवार के बच्चों का संज्ञानात्मक विकास भी अधूरा एवं अपूर्ण होते पाया। ऐसे बच्चों के चिन्तन एवं तर्क करने की क्षमता धनी परिवार के बच्चो की ऐसी क्षमता की अपेक्षा हमेशा कम होती पायी गयी। पशुओं पर भी कुछ इस तरह के अध्ययन हुए जिससे यह पता चलता है कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित होता है।

प्रीमेंक)1983) ने एक इस तरह का अध्ययन "साराह" नामक वनमानुष पर किया। इस वनमानुष को प्लास्टिक के बने भिन्नभिन्न आकारों तथा रंगों के वस्तुओं के सहारे कई शब्दों को - होता था। "शब्द" सिखलाया गया। प्लास्टिक की बनी प्रत्येक वस्तु का अर्थ एक खास2.5 साल के इस तरह के प्रशिक्षण के बाद "साराह" ने 100 शब्दों को सीख लिया और इन शब्दों के सहारे वह अपनी आवश्यकताओं की भी अभिव्यक्ति करना सीख गया। बाद में प्रीमेंक ने "साराह" को अन्य वनमानुषों जिन्हें ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया गया था, के साथ प्रयोगशाला में कई कठिन एवं जटिल समस्याओं का समाधान ढूढने के लिये दिया। इन समस्याओं के समाधान में उच्च चिन्तन की आवश्यकता थी, परिणाम में देखा गया कि "साराह" ने अन्य वनमानुषों की अपेक्षा इन समस्याओं का समाधान जल्दी कर लिया।

प्रीमेंक के अनुसार ऐसा इसलिए हुआ क्योकि "साराह" को भाषा का प्रशिक्षण दिया गया था। इस अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

ओर्फ)1956) ने अपने गुरु सापिर के इस कथन को कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित होता है को और अधिक तीक्ष्ण करते हुए कहा कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित ही नहीं बल्कि निर्धारित भी होती है। ओर्फ के योगदान को मनोवैज्ञानिकों द्वारा अधिक मान्यता मिली है। ओर्फ की उपकल्पना यह थी कि भाषा का विकास चिन्तन से पहले होता है तथा चिन्तन की प्रक्रिया का निर्धारण पूर्णरुपेण भाषा द्वारा ही होता है। इसे "भाषाई नियतिवाद" कहा गया तथा साधारण रुप से "आर्फ परिकल्पना" के नाम से मशहूर हुआ। इस उपकल्पना के अनुसार सभी उच्च स्तरीय चिन्तन भाषा द्वारा ही निर्धारित होते हैं। ओर्फ उपकल्पना के समर्थन में उन अध्ययनो का उल्लेख किया जाता है जो भिन्नभिन्न तरह के भाषा प्रयोग - करने वाले व्यक्तियों के प्रत्यक्षणात्मक एवं संज्ञानात्मक अन्तर से सम्बन्धित हैं। ओर्फ)1956) ने अपने एक ऐसे ही अध्ययन में ग्रीनलैंड के जाति एस्किमों तथा अंग्रेजी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों के प्रत्यक्षण एवं चिन्तन की प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। एस्किमों की भाषा में बर्फ के लिए कम से कम 12 शब्द और है जिनका अर्थ बर्फ ही होता है परन्तु उसका प्रयोग भिन्नभिन्न प्रकार की बर्फ को - समझने तथा प्रत्यक्षण करने में करता है। अंग्रेजी भाषा में बर्फ के लिए सिर्फ एक या दो शब्द है। ओर्फ ने भिन्न प्रकार के बर्फ का प्रत्यक्षण एवं उसके बारे-अपने अध्ययन में पाया कि जितने स्पष्ट रुप से भिन्नमें चिन्तन एस्किमो द्वारा किया जाता है उतना स्पष्ट प्रत्यक्षण एवं चिन्तन अंग्रेजी बोलने वाले व्यक्तियों द्वारा नहीं किया जाता है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भाषा विकसित होने पर प्रत्यक्षण एवं चिन्तन भी स्पष्ट होते है। ओर्फ प्राकल्पना का समर्थन उन अध्ययनो से भी होता है जिसे कुछ ऐसी जनजातियों पर किया गया है जिनमें भिन्नभिन्न रंगो के लिए अलग से कोई नाम नहीं होता है। दानी-, न्यूमिनिया की - भिन्न रंगों को ज्ञात करने के लिए मात्र दो शब्द हैं-एक ऐसी जाति है जिसमें भिन्न"मिली" जिसका अर्थ काले से होता है तथा "मोला" जिसका अर्थ उजला से होता है। के)1975) एवं बर्लिन तथा के)1969) ने जब "दानी" जनजाति एवं अंग्रेजी भाषा बोलने वाले कुछ व्यक्तियों जिन्हें भिन्नभिन्न रंगों के लिए - यक्षण ंभिन्न प्रकार के रंगों के अन्तर का प्रत-अलग शब्द प्रयोग करने की आदत है को भिन्न-अलग तथा उसके बारे में कुछ सोचकर बताने के लिए कहा तो "दानी" जाति के व्यक्तियों में ऐसा करने की असमर्थता पायी गयी जबकि अंग्रेजी भाषा बालने वाले व्यक्ति इसमें समर्थ रहे। इसका कारण बतलाते हुए प्रयोगकर्ताओं ने कहा कि ऐसा इसलिए हुआ क्योकि दानी के भाषा में भिन्न-भिन्न रंगो के लिए मात्र दो ही शब्द थे जबकि अंग्रेजी भाषा में भिन्नअलग शब्द है। यद्यपि -भिन्न रंगों के लिए ग्यारह अलग- ओर्फ प्राक्कल्पना एक काफी महत्तवपूर्ण प्राक्कल्पना है फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने इसकी आलोचना निम्नांकित ढंग से की है। ओर्फ परिकल्पना के अनुसार भाषा मे ंविभिन्नता से चिन्तन क्षमता में भी विभिन्नता आती है, डेल)1976) ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि भाषा में विभिन्नता से यह

स्पष्ट रुप से पता चलता है कि भाषाएँ एक-दूसरे से भिन्न होती है, परन्तु इसके आधार पर बिना किसी स्वतंत्र माप के यह कह देना कि इसके कारण चिन्तन क्षमता में भी अन्तर होता है, उचित नहीं हैं, ओर्फ प्रक्कल्पना में ऐसा ही किया गया है जिसका कोई वैज्ञानिक औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। ओर्फ परिकल्पना की दूसरी आलोचना इस आधार पर की गयी है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में विभिन्नता के बावजूद काफी अधिक समानता होती है। जैसे, प्रत्येक भाषा में संज्ञा तथा क्रिया होती है और प्रत्येक भाषा में कुछ नियम होते है जिनके अनुसार शब्द के क्रम का निर्धारण होता है। इतना ही नहीं भाषा की किसी विषेप संरचना जैसे शब्द मिलाकर बोलना, पूरा-पूरा शुद्ध वाक्य बोलना आदि प्रत्येक भाषा बोलने वाले बच्चो में करीब-करीब एक ही समय में विकसित होती है।

ब्राअ तथा कूक)1986) के अनुसार ऐसी परिस्थिति में भिन्नभिन्न भाषा बोलने वाले एक उम्र - के सभी बच्चों की चिन्तन क्षमता एक समान होनी चाहिए थी। यदि ऐसा होता तो ओर्फ प्राक्कल्पना को पूर्ण समर्थन मिलता। परन्तु भाषा में इस समानता के बावजूद भी उनकी चिन्तन क्षमता समान नहीं होती।

(2) मनोवैज्ञानिकों का एक दूसरा समूह ऐसा भी है जिसने उपर्युक्त विचार के ठीक विपरीत विचार व्यक्त किया है। इसमें पियाजे)1923) तथा क्लार्क)1973) का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन मनोवैज्ञानिको का कहना है कि चिन्तन की प्रक्रिया व्यक्ति में पहले होती है और बाद में उससे संबंधित शब्दों या) का विकास होता है। दूसरे शब्दों में चिन्तन की प्रक्रिया के लिए भाषा आवश्यक नहीं है (भाषा क्योंकि चिन्तन पहले होता है और भाषा का प्रयोग बाद में। इस तरह से चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रतिबिम्बित होती है न की निर्धारित होती है। पियाजे ने अपने प्रयोग में पाया कि कुछ शब्द जैसे बड़ा, छोटा, लम्बा, दूर आदि का अर्थ बच्चा तब तक नहीं समझता है जब तक कि उसमें इन शब्दों से सम्बन्धित तार्किक सम्प्रव्ययों का विकास नहीं होता है।

(3) कुछ मनोवैज्ञानिकों ऐसे भी हैं जो इन विपरीत विचारों के बीचोंबीच अपना विचार रखते हैं। ऐसे - -अलग ं े ं मनोवैज्ञानिको का कहना है कि भाषा तथा चिन्तन दो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो प्रारम्भ म तथा स्वतन्त्र रुप से विकसित होती है। किसी एक का विकास दूसरे द्वारा प्रभावित नहीं होता है। रुसी) मनोवैज्ञानिक वाइगो टस्काई1963) का ऐसा ही विचार है। इनके अनुसार दो साल तक की अवस्था में चिन्तन तथा भाषा का विकास बिना एक दूसरे को प्रभावित किये हुये होता है। परन्तु उसके बाद चिन्तन की अभिव्यक्ति शब्दों में होने लगती है तथा बच्चे शब्दों का प्रयोग भी विवेकी ढंग से करने लगते हैं। ऊपर वर्णन किये गये तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कोई संदेह नहीं है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित अथवा निर्धारित होती है। परन्तु इसके आधार पर यह कह देना कि सभी उच्चतर चिन्तन भी निश्चित रुप से भाषा पर ही निर्भर होते है उचित नहीं है।

4. 3.3 चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका -

मनोवैज्ञानिक चिन्तन तथा समस्या समाधान व्यवहार में मानसिक तत्परता के महत्व को काफी गहन रुप से अध्ययन किया है। मानसिक तत्परता से तात्पर्य प्राणी की ऐसी मानसिक स्थिति से होता है जिसके सहारे वह दिये गये समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है। प्रत्येक समस्या का समाधान करने के पहले व्यक्ति एक प्रकार की मानसिक तैयारी करता है कि इसके समाधान के लिए वह किस तरह की अनुक्रिया करेगा। इसे ही "मानसिक तत्परता" या "वष्ति" की संज्ञा दी जाती है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये भिन्नभिन्न प्रयोगो से यह स्पष्ट हो गया है कि तत्परता से समस्या के - समाधान में भी मदत मिलती है तथा बाधा भी पहुँचती है। तत्परता के इन दोनों तरह के प्रभावों को दिखाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोज्यों के तत्परता को दो तरीकों से प्रभावित कर प्रयोग किये हैं पहला तरीका वह है जिसमें प्रयोज्यों को कुछ खासखास शाब्दिक निर्देश देकर उसकी तत्परता को - प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। तथा दूसरा तरीका वह है जिसमें प्रयोज्य कोपूर्व अनुभूतियों (sensations) को नियंत्रित करके उसकी तत्परता को प्रभावित करने की कोशिश की गयी है पहले तरीके द्वारा ऐसे प्रयोग किये गये हैं जिनसे यह पता चलता है कि तत्परता से किसी समस्या के समाधान में किस तरह से मदद मिलती है। तत्परता के इस प्रभाव को गुणकारी या लाभकारी प्रभाव कहा गया। दूसरे तरीके से अधिकर ऐसे प्रयोग किये गये है जिनसे यह पता चलता है कि तत्परता, विशेषकर गलत तत्परता से समस्या के समाधान में किस तरह से बाधा पहुँचती है या इसका समाधान विलम्बित से जाता है। मनोवैज्ञानिको ने तत्परता के इस प्रभाव को अगुणकारी प्रभाव कहा है। इन दोनों तरह के प्रभावों की चर्चा अलगअलग निम्नांकित है।-

(1) समस्या समाधान में तत्परता का लाभकारी प्रभाव -:

जब किसी समस्या के समाधान में हम सही तत्परता विकसित करते हैं, तो इससे उस समस्या का समाधान जल्द कर लेते हैं। तत्परता के इस गुणकारी प्रभाव को दिखाने के लिए कई प्रयोग भिन्न) भिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये। इसमें मायर-1930) द्वारा किये गये प्रयोग काफी महत्वपूर्ण हैं। मायर ने तत्परता के लाभकारी प्रभाव को दिखलाने के लिए कई प्रयोग किये है। जिनमें तीन प्रयोग प्रमुख हैं। इन तीनो प्रयोग में इन्होने यह दिखलाया कि तत्परता को किस तरह से शाब्दिक निर्देष द्वारा प्रभावित किया जा सकता है जो बाद में व्यक्ति को समस्या के समाधान में मदद करता है-:इनके तीन प्रयोग निम्नांकित हैं -:

(i) पेण्डुलम समस्या का प्रयोगयह प्रयोग कालेज छात्रों पर था इनको दो पेण्डु -:लम बनाना था। इसके लिए छात्रों को एकएक करके कमरे में बुलाया-, इस कमरे में बहुत तरह की सामग्रियों जैसे छोटी लकड़ी, बड़ी लकड़ी, बिजली के तार, शिकंजा, चाक आदि बिखरे थे। इन सभी सामग्रियों की जरुरत दो दोलन बनाने में नहीं थी, परन्तु इस बात को प्रयोज्यों से नहीं कहा गया था। इस प्रयोग में प्रयोज्य को दो दोलक

इस ढंग से बनाना था कि प्रत्येक दोलक कमरे में एक निर्धारित स्थल पर होकर झूले। इस समस्या के तीन अंश प्रदर्शन थे जिन्हें एक साथ मिला देने से समस्या का समाधान आसानी से हो जा सकता है। इसके अलावा मायर, प्रयोज्यों को एक निश्चित शाब्दिक निर्देष भी दिया करते थे। जिसका उद्देश्य प्रयोज्यों को एक ऐसी तत्परता कायम करना था जिससे समस्या का समाधान आसानी से हो सके इस प्रयोग में निम्नांकित पांच समूहों ने भाग लिया।

समूह 1:- इसे सिर्फ समस्या दी गयी।

समूह 2:- इसे समस्या के अलावा अंश प्रदर्शन भी दिया गया परन्तु यह भी कह दिया गया कि इस तरह के प्रदर्शन से समस्या का समाधान नहीं होगा।

समूह 3:- इसे समस्या के अलावा अंश प्रदर्शन यह कह कर दिया गया कि इससे समस्या के समाधान में मदद मिलेगी।

समूह 4:- इसे समस्या के अलावा निश्चित शाब्दिक निर्देश भी दिया गया।

समूह 5:- इसे समस्या, निश्चित शाब्दिक निर्देश तथा अंश प्रदर्शन यह कह कर दिया गया की यदि इन प्रदर्शनों को एक साथ संयोजित कर लिया जाये तो इससे समस्या समाधान में काफी मदद मिलेगी। इस प्रयोग के परिणाम बड़े रोचक थे। परिणाम में देखा गया कि प्रथम चार समूहों में से जिसमें प्रयोज्यों की कुल संख्या 62 थी, केवल एक प्रयोज्य ने समस्या का समाधान निर्धारित समय के भीतर किया। पाँचवे समूह के 22 प्रयोज्यों में से 8 ने समस्या का समाधान किया इस परिणाम के आधार पर मायर ने निष्कर्ष के रुप में यह बतलाया कि प्रयोज्य को समस्या के समाधान के लिए सिर्फ अंश प्रदर्शन की ही जरुरत नहीं थी बल्कि एक खास प्रकार की तत्परता की भी जरुरत थी जो उनके प्रयोज्यों में एक निश्चित शाब्दिक निर्देश देने से उत्पन्न हुआ था। शायद यही कारण है कि पांचवे समूह के अधिकतर प्रयोज्यों ने समस्या का सही समाधान किया जो प्रयोज्य असफल रहे उनमें गलत तत्परता उत्पन्न हो गयी थी।

(ii) रस्सी बाँधने की समस्या पर प्रयोग:- मायर (1930) का यह दूसरा प्रयोग काफी महत्वपूर्ण था। जिसमें कालेज के छात्र ही प्रयोज्य थे। इस प्रयोग का उद्देश्य यह दिखलाना था कि जब प्रयोग में शाब्दिक संकेत तथा आशाब्दिक संकेत किसी समस्या का समाधान करने में दे दिया जाता है तो इससे प्रयोज्य में विशेष तत्परता उत्पन्न हो जाती है जिससे उसे समस्या का समाधान करने में मदद मिलती है। प्रयोज्यों को बारी-बारी से एक ऐसे कमरे में लाया जाता था जिसकी छत से दो रस्सी लटक रही थी उसके आपस की दूरी इतनी अधिक थी कि प्रयोज्य के लिये एक ही साथ दोनों को छूना संभव नहीं था। समस्या यह थी कि दोनो रस्सी को एक साथ कैसे बांधा जा सकता हैं। कमरे में इस बार भी काफी सामग्रियां उपस्थित थी। ऐसे भी इस समस्या के कई समाधान थे परन्तु मायर एक निश्चित समाधान ही

चाहते थे। प्रयोज्य को किसी एक रस्सी के लटकते छोर से कोई भारी चीज को बांध और झूलते-झूलते वह दूसरी रस्सी की ओर अधिकतम दूरी पर पहुँच जाये, तो प्रयोज्य इसे पकड़ कर दूसरी लटकती रस्सी से बांध दे। प्रत्येक प्रयोज्य की समस्या के समाधान के लिये मात्र 10 सेकण्ड का समय दिया जाता था कुछ ने तो इस निश्चित समय के भीतर समाधान कर लिया किन्तु कुछ असफल रहे असफल रहने पर मायर ने दो तरह के संकेत दिये। परिणाम में यह देखा गया कि बिना संकेत के 39% प्रयोज्य ने समस्या का समाधान किया, संकेत देने के बाद और 38% ने समस्या का समाधान किया और बाकी 23% इस तरह के संकेत के बाबजूद भी असफल रहे। मायर ने इस प्रयोग के परिणाम के आधार पर बतलाया कि संकेत देने से प्रयोज्य में कुछ विशेष तत्परता उत्पन्न हो गयी जिसके कारण 38% अतिरिक्त प्रयोज्य ने समस्या का समाधान किया। (iii) मायर का तीसरा प्रयोग:- मायर का तीसरा प्रयोग दो प्रयोगों के एक विशेष प्रेक्षण पर आधारित था। मायर ने इन दोनो प्रयोगों में पाया कि कुछ प्रयोज्यों द्वारा समस्या के समाधान में जो असफलता प्राप्त हुई उसका प्रधान कारण यह था कि उनमें एक गलत तत्परता विकसित हो गयी थी। क्या यह सम्भव नहीं है कि इस तरह की तत्परता को परिवर्तन करके प्रयोज्य दूसरी ऐसी तत्परता विकसित करे जिससे उसे समस्या समाधान में मदत मिले मायर ने तीसरे प्रयोग इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया। इस प्रयोग में प्रयोज्य के दो समूह लिये, प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह दोनों समूह के प्रयोज्यों को अलग-अलग तीन समूह समरूप समस्या का समाधान करने को कहा गया। प्रयोगात्मक समूह को समस्या का समाधान करने के पहले 20 मिनट का भाषण दिया गया जिसमें विशेष रूप से इस बात पर बल डाला गया था कि किसी तरह किसी समस्या के समाधान में जब गलत तत्परता विकसित हो जाती है तो इसे बदलकर इसकी जगह पर दूसरी तत्परता विकसित की जा सकती है ताकि समस्या का समाधान आसानी से किया जा सके। परिणाम में देखा गया कि प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह द्वारा तीनों समस्याओं के सही समाधान की प्रतिशत में अधिक अन्तर तो नहीं था परन्तु निश्चित रूप से कम अन्तर पर ही प्रयोगात्मक समूह के सही समाधान का प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक था। अतः मायर का निष्कर्ष यह था कि यदि गलत तत्परता की जगह पर सही तत्परता विकसित हो जाती है, तो इससे समस्या को समाधान में काफी मदद मिलती है।

समस्या समाधान में वृत्ति या तत्परता का हानिकारक प्रभावः -

तत्परता से समस्या के समाधान में हमेशा मदद ही नहीं मिलती है बल्कि कभी-कभी बाधा भी पहुँचती है। मायर के प्रयोग से हमें इस बात का भी पूर्ण रूप से संकेत मिल जाता है कि अनुचित तत्परता किसी समस्या का समाधान करने में जब विकसित हो जाती है तो इससे समस्या के समाधान में बाधा पहुँचती है वृत्ति के सिर्फ इस हानिकारक प्रभाव को दिखाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अलग से कई प्रयोग किये जिसमें प्रयोज्य के गत अनुभवों को नियंत्रित करके तत्परता के हानिकारक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। डंकर ने गलत तत्परता के इस अंधे प्रभाव को 'क्रियात्मक अटलता

या स्थिरता' कहा जाता है ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि व्यक्ति नयी समस्या का समाधान करने में एक तरह से क्रियात्मक रूप से स्थिर हो जाता है यानि बार-बार एक ही अनुक्रिया करता रहता है जिससे वर्तमान समस्या का समाधान नहीं हो पाता है।

वृत्ति के हानिकारक प्रभाव को दिखाने के लिए लूचिन्स)1942) द्वारा किया गया प्रयोग सबसे उल्लेखनीय है। इन्होनें अनेक प्रयोग पानीघड़ा समस्या पर किये। इसके एक विशेष प्रयोग में - तीन घड़ों के सहारे एक घड़े से दूसरे घड़े में अदलबदल कर पानी का एक खास स्तर लाना होता था। - इस तरह की कुल9 समस्याँए थी। इस सभी समस्याओं का विस्तृत स्वरूप प्रथम अभ्यास समस्या को) निम्नांकित है। (छोड़कर

घड़ा				घड़ों में वांछित पानी का स्तर
	ए	इ	ब	
समस्या सं0 2	21	127	03	100
समस्या सं0 3	14	163	25	99
समस्या सं0 4	18	43	10	05
समस्या सं0 5	09	42	06	21
समस्या सं0 6	20	59	04	31
समस्या सं0 7	23	49	03	20
समस्या सं0 8	15	39	03	18
समस्या सं0 9	28	76	03	25

यदि हम उपर्युक्त समस्या पर ध्यान दें तो समस्या संख्या 1-6 तक का समाधान सूत्र इब से हो - सकता है। अर्थात इ घड़ा को पूर्णतः दिखाये गये ईकाई की मात्रा में भरकर उसमें से घड़ा की क्षमता को घटाकर पानी निकालकर फिर से इ घड़ा से ही ब घड़ा की क्षमता के बराबरपानी दो बार निकाल लेने से सबसे बडे घड़े में निर्दिष्ट पानी की मात्रा प्राप्त हो जायेगी। (घड़ा इ)

इस प्रयोग में प्रयोज्यों के कई समूह थे जिन्हें मूल रूप से दों भागों में बांटा गया था नियंत्रित समूह तथा प्रयोगात्मक समूह। पहली समस्या एक तरह की अभ्यास समस्या थी जिसका समाधान दोनो

समूह ने किया इसके बाद नियंत्रित समूह को हटा दिया और प्रयोगात्मक समूह समस्या संख्या 2 से 6 तक का समाधान किया गया। इसके बाद पुनः नियंत्रित समूह को बुला लिया गया और दोनों समूह को अलग अलग-7,8 तथा 9 दिया गया। समस्या 7 व 8 कुछ ऐसी थी जिसे पहले की 6 विधि से तो समाधान किया ही जा सकता था परन्तु और भी आसनी से इसे अन्य विधि द्वारा समाधान किया जा सकता था। समस्या सं0 9 का समाधान पहले की किसी भी विधि से संभव नहीं था इसका समाधान बिल्कुल नयी विधि से हो सकता था। परिणाम में यह देखा गया कि प्रयोगात्मक समूह को 70 से % 100प्रयोज्यों ने समस्या सं %0 7 व 8 का समाधान पुरानी विधि से किया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इस समस्याओं का समाधान करने से प्रयोज्य में एक खास तत्परता उत्पन्न हो गयी थी। नियंत्रित समूह के किसी भी प्रयोज्य ने समस्या संख्या 7 और 8 के समाधान में पुरानी विधि का उपयोग नहीं किया गया। समस्या संख्या 9 के समाधान में प्रयोगात्मक समूहों के अधिकतर प्रयोज्य नियंत्रित समूहों की अपेक्षा असफल रहें हालांकि इसका समाधान कम समय में ही आसानी से किया जा सकता था। लुचिन्स के इस परिणाम से स्पष्ट है कि समस्या के समाधान करने से उत्पन्न तत्परता हमेंशा बाद के समस्या के समाधान में सहायक ही नहीं होती है। शायद यही कारण है कि 1 से 8 तक एक ही विधि से समाधान करने की तत्परता उत्पन्न हो गयी थी जो समस्या सं0 9 के समाधान के लिए अनुचित थी।

अतः उपर्युक्त उदाहरणों के निष्कर्प स्वरूप यह कहा जा सकता हे कि समस्या के समाधान यानि चिन्तन में किसी तत्परता का प्रभाव सहायक भी होता है तथा बाधक भी। तत्परता के इस बाधक प्रभाव को यानि हानिकारक प्रभाव को कुछ विशेष तरीकों द्वारा कम भी किया जा सकता है।

4.4 चिन्तन की प्रक्रिया

चिन्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने गत अनुभूतियों (sensations) को सहारा लेता है चिन्तन की प्रक्रियाको निम्नांकित बिंदुओ की सहायता से समझाया जा सकता हैः-

1) चिन्तन की प्रक्रिया लक्ष्य निर्देशित होती है जब हमारे समाने कोई समस्या आती है तो उसके समाधान के लिए प्रयत्नशील हो जाते है और चिन्तन करना षुरू कर देते है। चिन्तन के समय व्यक्ति का सारा प्रयास एक निश्चित लक्ष्य यानी, उस समस्या के समाधान की और होता है।
2) चिन्तन में खासकर यथार्थवादी चिन्तन में तर्क होता है। चिन्तन करते समय व्यक्ति किसी विषय या घटना के पक्ष या विपक्ष में तर्क करता है। उदाहरणार्थ कोई छात्र अपने कमरे में टेबुल लैम्प की रोशनी में पढ़ रहा है अचानक रोशनी बुझ जाती है। अब छात्र के सामने यह समस्या उठ खड़ी होती है कि रोशनी कहाँ से आये कि पढाई जारी रखी जा सके। छात्र अपने कमरे में कई तरह के तर्क करते हुए चिन्तन कर सकता है। वह सोच सकता है कि संभवतः बिजली के मीटर के बगल का फ्यूज तार जल गया हो। फिर वह सोच सकता है कि चूकि बगल के कमरे का बल्ब जल रहा है अतः जरूर ही

लेंप के बल्ब फ्यूज हो गया होगा अतः छात्र बल्ब की जांच करेगा और उसके बाद यदि वह यह पाता हे कि बल्व भी ठीक है तो स्पष्टतः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि टेबुल लैम्प का स्विच खराब हो गया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि चिन्तन में क्रमबद्व रूप से व्यक्ति तर्क करता है।

3) प्रायः चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है हालाकि कुछ चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है हालाकि कुछ चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से न होकर काल्पनिक वस्तुओं से भी होता है। जैसे यदि कोई छात्र गणित की समस्या का समाधान कर रहा है। तथा साथ ही सोच रहा हे कि कल की पार्टी काफी अच्छी थी तो उसके द्वारा किये गये चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता तथा कल्पना दोनों से होता है। परन्तु ऐसा कम होता है ज्यादातर चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है।

4) चिन्तन में प्रयत्न तथा त्रुटि की प्रक्रिया होती है, ऐसा इसलिए होता है क्योंकि चिन्तन के सहारे व्यक्ति किसी समस्या का समाधान करता है।

5) चिन्तन में स्पष्ट रूप से कोई न कोई समस्या होती है सच्चाई यह है कि किसी समस्या के उत्पन्न होने पर ही चिन्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से एक निश्चित समस्या होती है।

4.5 सारांश

- चिन्तन एक ऐसी मानासिक प्रक्रिया है जो सभी प्राणियों में होती है। प्रतिमाओं, प्रतीकों, संप्रत्ययों, नियमों एवं अन्य म्ध्यांश इकाइयों के सहारे किसी समास्या का समाधान करना ही चिन्तन है। चिन्तन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह हमेंशा लक्ष्य निर्देशित होता है।
- मनोविज्ञानिकों ने चिन्तन में भाषा की एक महत्वपूर्ण भूमिका बतलायी है। कुछ मनोवैज्ञानिकों जैसे ओर्फ)1956), ब्रनुर)1964) आदि का मत है कि भाषा के अभाव में चिन्तन की प्रक्रिया नहीं हो सकती। अतः चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रभावित तथा निर्धारित होती है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ठीक इसके विपरीत विचार व्यक्त किये और कहा कि चिन्तन की प्रक्रिया पहले होती है। तथा बाद में इससे सम्बन्धित भाषा का विकास होता है। क्लार्क)1973) तथा पियाजे)1923) के विचार इस श्रेणी के है। कुछ ऐसे भी मनोवैज्ञानिक है जो इन दो विपरित विचारों के बीचों बीच विचार रखते-है। तथा दावा करते है कि भाषा तथा चिन्तन दो ऐसी प्रक्रिया है जो आरम्भ में अलग अलग तथा स्वंतत्र रूप से विकसित होती है।-
- मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तन में मानसिक तत्परता के महत्व को दिखलाने के लिए अनेक प्रयोग किये है। इसमें कुछ प्रयोग द्वारा यह दिखलाया गया है कि तत्परता से समस्या समाधान या चिन्तन में मदद मिलती है तथा यदि तत्परता अनुचित या गलत हुई तो इससे व्यक्ति को समस्या समाधान में बाधा भी पहुँचती है।

- चिन्तन की प्रक्रिया लक्ष्य निर्देशित होती है। यथार्थवादी चिन्तन तर्कपूर्ण होता है। इसका सम्बन्ध प्रायः वास्तविकता से होता है। इसमें प्रयत्न तथा त्रुटि की प्रक्रिया होती है। चिन्तन में स्पष्ट रूप से कोई निश्चित समस्या होती है।

4.6 शब्दावली

- **चिन्तन:** प्रतिमाओं, प्रतीको, सम्प्रत्ययों, नियमों एवं अन्य मध्यस्थ इकाइयों के मानसिक जोड़तोड़ - को चिन्तन कहा जाता है।
- **मानसिक तत्परता:** मानसिक तत्परता से तात्पर्य प्राणी की ऐसी मानसिक स्थिति से होता है जिसके सहारे वह दिये गये समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है।

4.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) सभी चिन्तन प्रक्रियाएँ अनिवार्यतः किस पर आधारित होती है?
2) निम्नलिखित में से किसे चिन्तन के साधन की सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है?
   i)प्रतिभा ii) भाषा iii) सम्प्रत्यय iv) प्रयत्न एवं त्रुटि
3) भाषाई नियतिवाद क्या है?
4) चिन्तन के भाषा की उपयोगिता का विरोध करने वाले मुख्य मनोवैज्ञानिक कौन है?
5) तत्परता के गुणकारी तथा अगुणकारी प्रभाव में क्या अन्तर है?
6) चिन्तन की प्रक्रिया वास्तविक होती है या काल्पनिक ?

उत्तर: 1) समास्या समाधान पर 2) सम्प्रत्यय

3) भाषा का विकास चिन्तन से पहले होता है तथा चिन्तन पूर्णरूपेण भाषा द्वारा होता है |

4) पियाजे तथा क्लार्क

5) जब तत्परता से समास्या का समाधान जल्दी होता है उसे गुणकारी तथा जब तत्परता से समाधान में बाधा पहुँचती है उसे अगुणकारी प्रभाव कहते हैं |

6) वास्तविकता

4.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञानडा -:0 प्रीती वर्मा तथा डा0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, प्रकाशक विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2
- उच्च प्रयोगगिक मनोविज्ञानडा -:0 आर0 एन0 सिंह तथा डा0 एस0 एस0 भारद्वाज, प्रकाशक अग्रवाल पब्लिकेशन्स

- उच्चतर समान्य मनोविज्ञानडा -:0 ए0 के0 सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास
- प्रतियोगिता मनोविज्ञानडा -:0 अरूण कुमार सिंह तथा आशीष कुमार सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. चिन्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
2. चिन्तन में भाषा के महत्व को समझाते हुए ओर्फ प्राक्कल्पना का वर्णन कीजिए।
3. चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका को समझाते हुए इसके लाभकारी प्रभावों की व्याख्या करिए।
4. टिप्पणीः -
    (i) चिन्तन की प्रक्रिया
    (ii) मानसिक वृत्ति के हानिकारक प्रभाव
    (iii) चिन्तन में भाषा के महत्व की आलोचनात्मक व्याख्या।

इकाई-5 सृजनात्मक चिन्तन (Creating thinking)

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप
5.3.1 सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताएँ
5.3.2 सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ
5.3.3 सृजनात्मक विचारक के गुण
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली
5.6 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
5.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

सृजनात्मक चिन्तन व्यक्ति की उस क्षमता को कहा जाता है जिससे वह कुछ ऐसी नई चीजों, रचनाओं या विचारों को पैदा करता है जो नया होता है एवं जो पहले से उसे ज्ञात नहीं होता है। यह एक काल्पनिक क्रिया या चिन्तन संश्लेषण हो सकता है। इसमें गत अनुभूतियों (sensations) से उत्पन्न सूचनाओं का एक नया पैटर्नस् और सम्मिश्रण सम्मिलित हो सकता है। यह निश्चित रुप से उद्देश्यपूर्ण या लक्ष्य निर्देशित होता है न कि एक निराधार स्वप्न चित्र होता है। यह वैज्ञानिक, कलात्मक या साहित्यिक रचना के रुप में हो सकता है। इस ईकाई में चिन्तन के स्वरूप, विशेषताओं, अवस्थाओं की सृजनात्मक विचारक के गुणों, सामानान्तर चिंतन उसकी क्रान्तिकारी प्रवष्टि, विशेषताओं तथा छः टोपी प्रकिया की चर्चा करेंगें।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बिंदुओ को समझाने में सक्षम होंगेः-

- सृजनात्मक चिन्तन के स्वरूप को समझा सकेंगें।
- सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगें।
- सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाओं के बारे में चर्चा कर सकेंगें।
- सृजनात्मक विचारक के गुणों की व्याख्या कर सकेंगें।

5.3 सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप

सृजनात्मक चिन्तन, चिन्तन का एक प्रमुख प्रकार है। सृजनात्मक चिन्तन को कई अर्थो में प्रयोग किया गया है। सृजनात्मक चिन्तन का सबसे लोकप्रिय अर्थ गिलफोर्ड)1967) द्वारा बतलाया गया है। इन्होंने चिन्तन को दो भागो में बांटा है -

(1) अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)

(2) अपसरण चिन्तन (divergent thinking)

(1) अभिसारी चिन्तन- अभिसारी चिन्तन (convergent thinking) में व्यक्ति दिये गये तथ्यों के आधार पर किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करता है, इस तरह के चिन्तन में व्यक्ति रुढ़िवादी तरीका अपना कर अर्थात समस्या सम्बन्धी दी गयी सूचनाओं के आधार पर उसका समाधान करता है। अभिसारी चिन्तन (convergent thinking) में व्यक्ति बहुत आसानी से एक पूर्व निश्चित क्रम में चिन्तन कर लेता है।

(2) अपसरण चिन्तन- अपसरण चिन्तन (divergent thinking)में व्यक्ति भिन्न-भिन्न दशाओं में चिन्तन कर समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है। जब वह भिन्न-भिन्न दशाओं में चिन्तन करता है तो स्वभावतः वह समस्या के कई संभावित उत्तरों पर चिंतन करता है और अपनी ओर से कुछ नये एवं मूल चीजों को जोड़ने की कोशिश करता है। इस तरह के चिन्तन की एक और विशेषता यह है (जो इसे अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)से अलग करती है) कि इसमें व्यक्ति आसानी से एक पूर्व सुनिश्चित कदमों के अनुसार चिन्तन नहीं कर पाता है (क्योकि इसमें कुछ नया एवं मूल चिन्तन करना होता है) मनोवैज्ञानिकों ने अपसरण चिन्तन (divergent thinking)को सृजनात्मक चिन्तन के तुल्य माना है।

5.3.1 सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताएँ -

सृजनात्मक चिन्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ है जिससे चिन्तन के स्वरुप पर स्पष्ट रुप से प्रभाव पड़ता है-:

(1) सृजनात्मक चिन्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जो लक्ष्य निर्देशित होती है। इसमें व्यक्ति को निश्चित रुप से लक्ष्य का पता होता है और उसका प्रत्येक व्यवहार इसी लक्ष्य से संबंधित होता है। व्यक्ति इस ढंग का व्यवहार अपने व्यक्तिगत या सामूहिक लाभ के लिए भी करता है।

(2) सृजनात्मक चिन्तन में व्यक्ति कुछ नया एवं भिन्न चीजों की रचना करता है। इसलिए यह उस व्यक्ति के लिए भी अनूठा होता है। इस तरह की अनूठी रचना शाब्दिक, अशाब्दिक, मूर्त या अमूर्त कुछ भी हो सकती है तथा यह व्यक्ति के लिए भी लाभदायक होती है। इस विशेषता के आलोक में मैटलिन

(1983) ने सृजनात्मकता को परिभाषित करते हुए कहा है "सृजनात्मकता में एक ऐसा नया समाधान ढूँढा जाता है जो असाधारण एवं लाभदायक दोनो ही होता है। सृजनात्मक चिन्तन में व्यक्ति समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में चिन्तन करता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न दिशाओं में चिन्तन करने की क्षमता को अपसरण चिन्तन (divergent thinking)भी कहा जाता है। यही कारण है कि सृजनात्मक चिन्तन में अपसरण चिन्तन (divergent thinking)को सम्मिलित हुआ माना जाता है। मार्गन, किंग, विस्ज तथा स्कौपलर (Morgan, King, Weisz, Schopler, 19861) ने इसलिए कहा है "सृजनात्मक रुप से चिंतन के समय लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं चिंतन करते हैं और इस तरह से समस्या के बारे में उनमें बहुत सारे विचार आते हैं।''

(3) सृजनात्मक चिन्तन, चिन्तन का एक विशेष तरीका है। यह बुद्धि से एक अलग संप्रत्यय है क्योंकि बुद्धि में सृजनात्मक चिंतन के अलावा भी अन्य मानसिक क्षमताएँ सम्मिलित होती है।

(4) सृजनात्मक चिन्तन करने की क्षमता व्यक्ति द्वारा पहले से प्राप्त सार्थक ज्ञान पर निर्भर करती है। यह सार्थक ज्ञान जितना ही अधिक होगा, सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

(5) सृजनात्मक चिन्तन में स्वली चिन्तन नियंत्रित ढंग से सम्मिलित होता है, दूसरे शब्दों में सृजनात्मक रुप से चिंतन के समय व्यक्ति कुछ अर्थपूर्ण कल्पनाएँ करता है। इसी अर्थपूर्ण कल्पना का ही परिणाम होता है कि व्यक्ति कुछ वैज्ञानिक कलात्मक तथा साहित्यिक रचना कर पाता है।

(6) सृजनात्मक चिन्तन में एक सीमा तक अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)भी सम्मिलित होता है। अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)करके व्यक्ति कुछ इस तरह की सूचनाएँ एवं सामग्रियों को इकट्ठा करता है। जिनसे उसे सृजनात्मक समाधान में मदद मिलती है।मार्गन, किंग, विस्ज, तथा स्कौपलर (1988) ने कहा है "अन्तिम सृजनात्मक समाधान के लिए रचनात्मक रुप से चिंतन करने वाला व्यक्ति अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)द्वारा महत्वपूर्ण सूचनाओं एवं विचारों को एकत्रित करता है।" अतः स्पष्ट है कि सृजनात्मक चिन्तन एक जटिल प्रक्रिया है। इस तरह के चिन्तन करने की क्षमता सभी व्यक्तियों में अधिक हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

5.3.2 सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ -

सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप काफी जटिल है। चाहे व्यक्ति सामान्य चिन्तन द्वारा किसी समस्या का समाधान कर रहा हो या वह सृजनात्मक रुप से चिन्तन कर रहा हो उसमें निम्नलिखित चार अवस्थाएँ होती है।

1) **आयोजन-** इस अवस्था में समस्या से संबंधित आवश्यक तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करने की तैयारी का आयोजन किया जाता है। समस्या समाधान से संबंधित उसके पक्ष एवं विपक्ष में प्रमाण

एकत्रित किये जाते हैं। ऐसा करने में वह प्रयत्न एवं त्रुटि का सहारा भी लेता है। आइन्सटीन, राईट तथा न्यूटन जैसे महान वैज्ञानिकों ने भी अपने सामने आयी समस्या के समाधान से संबंधित तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करके उसकी विस्तृत ज्ञान हासिल किया तथा उनके आधार पर सृजनात्मक चिन्तन किया। इस तरह से प्रत्येक रचनात्मक चिन्तन विभिन्न प्रकार के तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करने का आयोजन करता है। समस्या के स्वरुप तथा व्यक्ति के ज्ञान के अनुसार यह अवस्था लम्बे या कम समय तक होती है। यदि समस्या जटिल तथा व्यक्ति का ज्ञान सीमित है तो अवस्था का समय लम्बा परन्तु यदि समस्या सरल तथा व्यक्ति का ज्ञान भण्डार परिपक्व है तो अवस्था कम समय तक रहती है। जिम्बार्डो तथा रुक (1977) के अनुसार इस अवस्था पर व्यक्ति की आयु तथा बुद्धि का भी प्रभाव पड़ता है।

2) **उद्भवन-** यह दूसरी अवस्था है इसमें व्यक्ति की निष्क्रियता बढ़ जाती है, थोड़े समय के लिए व्यक्ति समस्या के बारे में चिन्तन करना छोड़ देता है जब कई तरह से कोशिश करने के बाद भी किसी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है तो इस अवस्था की उत्पत्ति होती हैं। इस अवस्था में व्यक्ति चिन्तन करना छोड़कर सो जाता है या विश्राम करने लगता है। यद्यपि इस अवस्था में व्यक्ति अपना ध्यान समस्या की ओर से पूर्णतः हटा लेता है, फिर भी अचेतन रुप से उसके बारे में चिंतन करता रहता है। इस तरह से व्यक्ति चेतन रुप से तो समस्या से मुक्त रहता है परन्तु अचेतन रुप से उसके समाधान के बारे में चिन्तन जारी रखता है।

3) **प्रबोधन -** यह चिन्तन की अगली अवस्था है जिसमें व्यक्ति को अचानक समस्या का समाधान दिखाई पड़ जाता है| सिलभरमैन (1978) के अनुसार "समाधान के अकस्मात् अनुभव को प्रबोधन कहा जाता है।'' यह अवस्था प्रत्येक सृजनात्मक चिन्तन में पायी जाती है। उद्भवन अवस्था में जब व्यक्ति अचेतन रुप से समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं को पुर्नसंगठित करते रहता है तो अचानक उसे समस्या का समाधान नजर आ जाता है। प्रबोधन की घटना सूझ के समान है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति में उद्भवन की अवस्था के बाद प्रबोधन की अवस्था कभी भी उत्पन्न हो सकती है। यहाँ तक की कभी-कभी व्यक्ति को सपने में भी प्रबोधन का अनुभव होते पाया गया है।

   i. **प्रमाणीकरण या सम्बोधन-** यह सृजनात्मक चिन्तन की चौथी अवस्था है। इस अवस्था में प्रबोधन की अवस्था से प्राप्त समाधान का मूल्यांकन किया जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति यह देखने की कोशिश करता है कि उसे जो समाधान प्राप्त हुआ है वह ठीक है अथवा नहीं। जाँच करने के बाद जब व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि समाधान सही नहीं था तो वह सम्पूर्ण कार्यविधि का संशोधन करता है और पुनः दूसरे समाधान की खोज करता है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सृजनात्मक चिन्तन की चार अवस्थाएँ है जो एक निश्चित क्रम में होती हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको ने इन अवस्थाओं की आलोचना की और कहा कि सभी सृजनात्मक चिन्तन में ये सभी अवस्थाएँ नहीं होती है। मन, फर्नेलड तथा फर्नेलड (1969) के अनुसार सृजनात्मक

चिन्तन की इन अवस्थाओं को दो प्रमुख आलोचनाएँ है, जो इस प्रकार है:सभी सृजनात्मक चिन्तन में चारों अवस्थाएँ मौजूद रहे यह आवश्यक नहीं है, जैसे सर एलेक्जेण्डर फ्लेमिंग जिन्होंने पेनिसलिन की खोज की, के इस खोज के सृजनात्मक चिन्तन में न तो उद्भवन और न ही कोई अवस्था पायी गयी थी।

ii. इन चारों अवस्थाओं द्वारा सृजनात्मक प्रक्रिया का विस्तृत ज्ञान हमें नहीं हो पाता है। इन अवस्थाओं से सिर्फ यह पता चलता है कि सृजनात्मक चिन्तन किस क्रम में होता है परन्तु सृजनात्मक प्रक्रिया के अन्य पहलुओं के बारे में हमें इससे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि सृजनात्मक चिन्तन की इन अवस्थाओं की आलोचना की गयी है, फिर भी हमारे दिन-प्रतिदिन का अनुभव तथा अधिकतर वैज्ञानिकों, कलाकारों एवं कवियों के सृजनात्मक चिन्तन का विश्लेषण इस बात का सबूत है कि इस प्रकार का चिन्तन उपर्युक्त अवस्थाओं के अनुसार ही होता है।

5.3.3 सृजनात्मक विचारक के गुण -

1) केट्टनर तथा उसके सहयोगियों (1959) ने कारक विश्लेषण करके सृजनात्मक विचारकों के कुछ गुणों का निर्धारण किया है। इसमें से कुछ प्रमुख गुण निम्नांकित हैं:
2) **बुद्धि-** सृजनात्मक चिन्तन का बुद्धि के साथ गहरा संबंध है कम बुद्धि वाले व्यक्तियों में सृजनात्मकता नहीं के बराबर होती है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि सभी अधिक बुद्धि वाले व्यक्तियों में सृजनात्मकता हो ही, 110-120 की बुद्धि लब्धि तक सृजनात्मकता तथा बुद्धि में धनात्मक सहसंबंध पाया गया है, परन्तु इससे ऊपर जाने पर जैसे बुद्धि लब्धि का स्तर 140 या इससे भी ऊपर होने पर व्यक्ति में सृजनात्मकता नहीं के बराबर होते देखा गया है।
3) **स्वतंत्रता-** सृजनात्मक विचारक के विचार तथा क्रियाओं में स्वतन्त्रता पायी जाती है ऐसे व्यक्ति इस बात की परवाह नहीं करते हैं कि उनके विचार तथा क्रियाएँ दूसरे व्यक्तियों से मेल खाती है या नहीं। मॉकनौन (1962) ने अधिक सृजनात्मक तथा कम सृजनात्मक व्यक्तियों के गुणों का तुलनात्मक अध्ययन किया और पाया कि अधिक सृजनात्मक व्यक्ति अधिक अविष्कारशील अधिक स्वतन्त्र तथा अधिक व्यक्तिपरक होते हैं जबकि कम सृजनात्मक व्यक्ति विश्वसनीय, आश्रित तथा सहनशील होते है।
4) **हास्य भाव-** सृजनात्मक विचारक की एक विशेषता यह होती है कि वे किसी घटना या वस्तु को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेते हैं बल्कि उनकी व्याख्या हास्यपूर्ण ढंग से करते हैं। मन, फर्नेल्ड तथा फर्नेल्ड (1969) ने एक अध्ययन किया जिसमें अधिक सृजनात्मक व्यक्तियों तथा अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों को व्यक्तित्व के कई शीलगुणों को उनके अपने लिए महत्व के क्रम में सजाने के लिए कहा गया। परिणाम में देखा गया कि अधिक सृजनात्मक व्यक्तियों द्वारा हास्य के शीलगुण को दूसरे कोटि में रखा गया जबकि इस शीलगुण को अधिक बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा अन्तिम कोटि में रखा

गया। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि सृजनात्मक विचारक में हास्य भाव अधिक होता है परन्तु अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों में इस तरह का भाव कम होता है।

5) **नवीनता तथा जटिलता में रुचि-** सृजनात्मक विचारक हमेंशा किसी नवीन जटिल समस्या के समाधान में अधिक रुचि दिखाते हैं। ऐसे लोगों को किसी रुढ़िवादी समाधान में आनन्द नहीं आता है। वह हमेशा यह कोशिश करते है कि अपने चिन्तन के आधार पर किसी नयी चीज या घटना की खोज करें। इस तरह के शीलगुण को बेल्श (1975) ने "मौलिकता" की संज्ञा दी है। इसका स्पष्ट मतलब हुआ कि सृजनात्मक व्यक्तियों में मौलिकता का शीलगुण होता है।

6) **स्वग्रही तथा प्रबल-** सृजनात्मक विचारक काफी स्वग्रही होते हैं अर्थात ऐसे व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति खुलकर करते हैं तथा काफी जोरदार शब्दों में उसके लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करते है कि लोग उनकी हँसी भी उड़ा सकते है। इतना ही नहीं उनमें प्रबलता का गुण होता है ऐसे व्यक्ति हमेशा अपने विचारो एवं व्यवहारों का प्रभुत्व दूसरो पर दिखलाते हैं क्योकि तार्किक क्षमता अधिक विकसित होती है।

7) **दमन का कम से कम प्रयोग-** जिन लोगों में सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता अधिक होती है वे लोग अपनी इच्छाओं को दमन द्वारा कम से कम नियंत्रित करते पाये गये हैं। दमन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति जान-बूझकर अपनी इच्छाओं एवं आवेगों को अचेतन में भेजता है। अर्थात अधिक सृजनात्मक क्षमता वाले व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा तथा आवेग का आदर करते है। इसके विपरीत बुद्धिमान व्यक्ति अपनी इच्छाओं तथा आवेगो का नियंत्रण इस दमन प्रक्रिया द्वारा अधिक करते हैं।

8) इस तरह हम देखते है कि अधिक सृजनात्मक चिंतन करने वाले व्यक्ति को उनके शीलगुणों के आधार पर समझा जा सकता है। अब आप स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं कि क्या आप भी एक सृजनात्मक विचारक है।

5.4 सारांश

- सृजनात्मक चिन्तन एक ऐसी प्रकिया है जिसमें व्यक्ति कुछ नये विचारों या तथ्यों को पैदा करके समास्या समाधान करने की कोशिश करता है|
- सृजनात्मक चिन्तन के दो स्वरूप है 1. अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)2. अपसरण चिन्तन
- सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख किया है |
- सृजनात्मक चिन्तन की चार प्रमुख अवस्थाएँ होती है 1. आयोजन 2. उदभवन 3. प्रबोधन 4. प्रमाणीकरण या सम्बोधन|
- सृजनात्मक विचारक के कुछ गुण होते है ऐसे छः गुणों का वर्णन किया है -:

1.बुद्वि 2. स्वतंत्रता ,3. हास्यभाव ,4. नवीनता तथा जटिलता में रूचि ,5. स्वग्रही तथा प्रबल ,6. दमन का कम से कम प्रयोग

5.5 शब्दावली

- **अभिसारी चिन्तन:** अभिसारी चिन्तन (convergent thinking)में व्यक्ति दिये गये तथ्यो के आधार पर किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करता है।
- **सृजनात्मक चिन्तन:** एक ऐसी प्रक्रिया है जो लक्ष्य निर्देशित होती है।

5.6 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) स्वली चिन्तन क्या है ?
2) सार्थक ज्ञान तथा सृजनात्मक चिन्तन में क्या संबंध है ?
3) सृजनात्मक चिन्तन की कौन सी अवस्था में समस्या का समाधान मिलता है?

उत्तर: 1) कल्पना तथा सपने आदि में समस्या का समाधान ढूंढना स्वली चिन्तन कहलाता है

2) सार्थक ज्ञान जितना अधिक होगा सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता उतनी ही अधिक होगी|

3) प्रबोधन

5.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञानडा :0 अरूण कुमार सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास
- इन्टरनेट

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओ का वर्णन कीजिए|
2. सृजनात्मक चिन्तन की छः टोपी प्रकिया समझाइये|
3. सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाओं की व्याख्या करिए |
4. टिप्पणी :
    i. अभिसारी तथा अपसरण चिन्तन (divergent thinking)
    ii. सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ
    iii. प्रबोधन

इकाई-6 समस्या समाधान के चरण (Steps of Problem solving)

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 समस्या समाधान के उपागम

6.3.1 समस्या समाधान की प्रकृति

6.3.2 समस्या समाधान के निर्धारक तत्व

6.3.3 समस्या समाधान की अवस्थाएँ

6.4 समस्या समाधान व्यवहार के चरण

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

समस्या समाधान व्यवहार एक उच्च संज्ञात्मक मानसिक प्रक्रिया है। इसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जब किसी प्राणी के समक्ष ऐसी समस्या होती है जिसका तत्काल समाधान सम्भव नहीं हो पाता या वह लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है, परन्तु बाधाएँ अवरोध उत्पन्न करती है, अर्थात समस्या समाधान व्यवहार के प्रदर्शित होने के लिए प्राणी या व्यक्ति के समक्ष ऐसी परिस्थिती होनी चाहिए जिसमें वह अपने पूर्वानुभवों या स्मृतियों के उपयोग के आधार पर समायोजन स्थापित करने या लक्ष्य प्राप्त करने में असफल हो और अपेक्षित लक्ष्य कि प्राप्ति के लिए नवीन और प्रांसगिक व्यवहार करना अपरिहार्य हो। इसमें प्राणी किसी न किसी प्रेरक या अन्तर्नोद द्वारा प्रेरित होता है। इस इकाई में हम समस्या समाधान की प्रकृति, उसके निर्धारक तत्वों, समस्या समाधान की अवस्थाओं तथा समस्या समाधान के चरणों की चर्चा करेगें।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पड़ने के बाद हम इस योग्य हो सकेगें कि निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा कर सके।

- समस्या समाधान की प्रकृति को विस्तारपूर्वक समझाने में सक्षम होगें।
- समस्या समाधान के निर्धारित तत्वों पर प्रकाश डाल सकेगें।
- समस्या समाधान की अवस्थाओं पर चर्चा कर सकेगें।

- समस्या समाधान के सोपानों की व्याख्या कर सकेगें।

6.3 समस्या समाधान के उपागम

जब प्राणी पूर्वानुभवों एवं स्मृतियों के उपयोग के बावजूद किसी परिस्थिती में सफल नहीं हो पाता है या पूर्व कि अनुक्रियाओं से सफलता नहीं मिलती है तो परिस्थिती प्राणी के लिए समस्या बन जाती है अर्थात जब किसी समस्या या कार्य को करने के लिए प्राणी के पास पूर्वनिश्चित उत्तर या हल नहीं होता है। तो वह समस्या या कार्य प्राणी के लिए समस्यात्मक रूप धारण कर लेता है।

एण्ड्रयाज)1960) के अनुसार कोई परिस्थिति किसी प्राणी के लिए समस्यात्म्क रूप निम्नवत धारण करती है।

(1) प्राणी के समक्ष किसी लक्ष्य का होना तथा पूर्वानिश्चित समाधान का आभाव।
(2) समाधान के लिए विभिन्न प्रकार के संकेतो का उपलब्ध होना।
(3) विभिन्न प्रबलता वाली अनुक्रियाओं का एक एक करके उपयोग करना।-
(4) अनुक्रियाओं के सही या गलत के होने की सूचना।

6.3.1 समस्या समाधान की प्रकृति-

समस्या समाधान की प्रकृति समझने के लिए आवश्यक है कि पहले समस्या का अर्थ, फिर समस्या समाधान का अर्थ, अन्त में समस्यात्मक स्थिति को समझा जाये। समस्या वह स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति अपने लक्ष्य को तो जानता है लेकिन उसकी लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग क्या है वह उसे ज्ञात नहीं होता है। जब प्राणी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभिप्रेरित होता है वस्तु लक्ष्य प्राप्ति के प्राथमिक प्रयास में असफल हो जाता है तो इस अवस्था में उस प्राणी के लिए समस्या उत्पन्न हो जाती है। उद्दीपक परिस्थिति और अनुक्रिया में सही सम्बन्ध स्थापित करना समस्या समाधान कहा जाता है। अर्थात समस्यात्मक परिस्थिति में नवीन एवं सही अनुक्रिया करके लक्ष्य प्राप्त करना समस्या समाधान व्यवहार कहा जाता है।।

सैन्ट्राक)2005) के अनुसार ''जब लक्ष्य के मार्ग में व्यवधान होता है, तो उसे उचित उपाय द्वारा प्राप्त करना समस्या समाधान कहा जाता है।''

बैरन)2001) के अनुसार ''अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु विभिन्न अनुक्रियाओं को विकसित करना या उन में से किसी का चयन करना समस्या समाधान है।''

गैलोटी)1999) के अनुसार ''यह एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें प्रारम्भिक सूचनाँए लक्ष्य प्राप्ति हेतु रूपान्तिरित हो जाती है इस हेतु समाधान के विशिष्ट उपाय प्रर्युक्त किये जाते है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समस्या व्यवहार उस समय प्रदर्शित होता है जब हम अपने अनुभवों के आधार पर किसी समस्या का समाधान नहीं कर पाते है। ऐसी दशा में हमें लक्ष्य तक पहुचँने के लिए कुछ अन्य उपाय करने पड़ते है।

जानसन (1972) के अनुसार, इस व्यवहार में निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती हैः -

(1) जब जीव समस्या परिस्थिति में आता है तो उसका व्यवहार लक्ष्योन्मुख हो उठता है तथा लक्ष्य प्राप्ति तक व्यवहार में निरन्तरता बनी रहती है।
(2) लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्राणी अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है।
(3) समस्या समाधान व्यवाहर में वैयक्तिक भिन्नताए प्रदर्शित होती है।
(4) प्रारम्भिक प्रयासों में समय अधिक लगता है परन्तु धीरे-धीरे समय में कमी आती है।
(5) समस्या समाधान के व्यवहार में प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व का महत्व होता है, अर्थात समस्या समाधान चिन्तन का एक विशिष्ट रूप है।
(6) लक्ष्य प्राप्त होने पर प्राणी समान्य अवस्था में आ जाता है। और लक्ष्य के प्रति होने वाली अनुक्रिया बंद हो जाती है। समस्यात्मक स्थिति उस समय उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति किसी लक्ष्य तक पहुचँने का प्रयास करता है परन्तु उसे प्रारम्भिक प्रयासों में सफलता प्राप्त नहीं होती है।
(7) एण्ड्रियाज (1960) ने समस्यात्मक स्थिति के पांच घटको का वर्णन किया है।
(8) समस्यात्मक स्थिति में जीव के सामने निश्चित रूप से एक अथवा अधिक लक्ष्य होते है।
(9) समस्यात्मक स्थिति में जीव को विभिन्न प्रकार के उद्दीपक प्राप्त होते है।
(10) समस्यात्मक स्थिति में जीव विभिन्न प्रकार की अनुक्रियाएँ समाधान हेतु करते है।
(11) समस्या स्थिति में जीव की विभिन्न प्रकार की अनुक्रियाये विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से अनुबन्धित होती है यह अनुबन्ध गत अनुभवो के आधार पर स्थापित होता है ।
(12) समस्यात्मक स्थिति में जीव सही अनुक्रिया कर रहा है या गलत अनुक्रिया कर रहा है इनका अनुभव जीव को हो जाता है। मार्गरेट मैटलिन)1983) ने समस्यात्मक स्थिति के तीन पक्षों का वर्णन किया है।

i. मूल स्थितिः- समस्या की यह पहली अवस्था है इस अवस्था में व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता है कि समस्या के लक्ष्य तक पहुँचने का साधन और मार्ग क्या है।

ii. नियम स्थितिः- यह समस्या की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति नियमों का उपयोग करके उनके अनुसार क्रिया करके लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है।

iii. लक्ष्य स्थितिः- यह समसया की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति को लक्ष्य प्राप्त हो जाता है अथवा समस्या का समाधन हो जाता है।

6.3.2 समस्या समाधान के निर्धारक तत्व-

समस्या समाधान को प्रभावित करने वाली सभी कारक मुख्यततीन प्रकार के होते है। समस्यात्मक :, समाधान की विशेषताएँ तथा समाधानकर्ता की विशेषताएँ। इन कारकों से सम्बन्धित कुछ प्रमुख कारक है।

(1) समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ :समस्यात्मक स्थिति से सम्बन्धित तीन कारक है जो समस्या समाधान को प्रभावित करते है।

(i) **समस्या का आकार-:** समस्या समाधान व्यवहार पर समस्या के आकार का स्पष्ट प्रभाव पढता है समस्या का आकार जितना बड़ा होता है, समाधान में प्रयोज्य को उतना ही अधिक समय लगता है।

(ii) **समस्या स्थिति का संगठन-:** यह देखा गया है कि समस्या स्थिति का संगठन सभी समस्या को प्रभावित करता है| डेमोनौस्की (1966) तथा हार्न (1962) ने अपने अध्ययनों में देखा कि असंगठित ऐनाग्राम्स की अपेक्षा सुसंगठित ऐनाग्राम्स को हल करने में प्रयोज्य ज्यादा समय लगाते है।

(iii) **समस्या और समाधान परिस्थतियों में समानता-:** ऐसे निष्कर्ष पाये गये है कि यदि समस्या की परिस्थिति और उसे पुर्नसंगठित करके हल निकलने के बाद की परिस्थिति एक जैसी है तो ऐसी दशाओं में समाधान प्रस्तुत करने में समय कम लगता है। परन्तु यदि दोनो परिस्थितियाँ काफी भिन्न होती है तो समाधान प्रस्तुत करने में समय अधिक लगता है।

डामिनास्की(1966) ने एनाग्राम्स में अक्षरों के स्थान परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन किया है। इस अध्ययन में एनाग्राम्स में एक, दो तीन अक्षर परिवर्तित करके दिये गये और देखा गया की निर्धारित समय 3 मिनट में एक अक्षर परिवर्तन की दशा में समाधान सार्वधिक पाया गया।

इससे स्पष्ट है कि समस्या- परिस्थिति और समाधान परिस्थिति में समानता होने पर समाधान में समय कम लगता है।

(2) समाधान की विशेषताएँ-: समस्या समाधान को प्रभावित करने वाले दूसरे प्रकार के कारक समाधान की विशेषताओं से सम्बन्धित है इनमें से प्रमुख कारक निम्न प्रकार से है।

(i) समाधान की जटिलता:- अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों में देखा गया है कि समस्या समाधान जितना ही जटिल होता हे समस्या का समाधान करने में प्रयोज्य को उतना ही समय लगता है।

(ii) समाधान के पदों की समस्या:- समस्या के समाधान के चरणों से प्रयोज्य जितना ही अधिक परिचित होता है समस्या समाधान में उतनी ही अधिक सरलता होती है और समय भी उतना ही कम लगता है जैसे-जिन एनाग्राम्स से परिचित और लोकप्रिय शब्द बनते है उनके शब्दों को प्रयोज्य सरलता से ही नहीं बल्कि कम समय में भी बना लेता है।

कुछ अध्ययनों का निष्कर्ष है कि जिन प्रशिक्षण विधियों से समाधान का परिचय बढ़ता है उनका समाधान पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है (डेकिस एवं मास्को, 1968 डामिनास्की एवं एक्सट्रैण्ड, 1967 डिवस्टा एवं वाल्स 1967)

(3) समाधानकर्ता की विशेषताएँ: - समस्या समाधान को प्रभावित करने वाले तीसरे प्रकार के कारक समाधानकर्ता की विशेषताओं से सम्बन्धित होते है। इस प्रकार के कुछ प्रमुख कारक इस प्रकार से हैः-

(i) अभिप्रेरणा सम्बन्धी कारक:- अनेक अध्ययनो को देखा गया है कि समस्या समाधान के लिए अभिप्रेरणा एक आवश्यक और महत्वपूर्ण कारक है। अभिप्रेरणा का जब तक एक अभिष्ट स्तर नहीं होता है तब तक समस्या समाधान सम्बन्धी निष्पादन कमजोर होता है चिन्ता को एक अभिप्रेरणात्मक वृत्ति माना गया है। एक अध्ययन रोसेल तथा सारसन, 1965 में देखा गया है कि अधिक चिन्तित व्यक्ति से उसके समस्या का समाधान में त्रुटिया ही नहीं बल्कि उनका निष्पादन भी दुर्बल रहा। कुछ अध्ययन में यह देखा गया है कि जब समस्या से सम्बन्धित एक कार्य में प्रयोज्य असफल हो जाते है तो प्रयोज्य का निष्पादन दूसरी समस्याओं के समाधान में निम्न स्तर का हो जाता है।

(ii) बुद्वि का प्रभाव:- कुछ प्रयोगों से यह निष्कर्ष पाप्त हुआ है कि प्रयोज्य की मानसिक क्षमता की समाधान व्यवहार को प्रभावित करती है। परन्तु समस्या समाधान की अवस्था में बुद्वि तथा कुछ अन्य योग्ताओं एवं समाधान व्यवहार में धनात्मक संबध नहीं पाया गया। वर्क एवं माया (1965) के अनुसार सूझपूर्ण समाधान सम्भवतः ऐसे विशिष्ट व्यवहार पर निर्भर करता है जो बुद्वि के प्रचलित मापों से निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

(iv) **पूर्व-अनुभव और अभ्यास:-** विभिन्न प्रयोगात्मक अध्ययनों में यह देखा गया हे कि प्रयोज्य को समस्या समाधान के सम्बन्ध में जितना अधिक पूर्व अनुभव व अभ्यास होता है उसके लिय समस्या समाधान उतना ही सरल होता है और समय भी कम लगता है। टेलर (1952),

डेकिस (1967) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह स्थिर किया कि पूर्व अनुभव समस्या समाधान का एक महत्वपूर्ण एवं सार्थक कारण हैं|

(v) **विन्यास का प्रभाव -:**समस्या समाधान पर विन्यास का स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ता है। समस्या समाधान में इस कारक का प्रभाव ज्ञात करने के लिए वचिक निर्देषों द्वारा या एक ही प्रकार के कार्य कुछ समय तक करा कर पहले विन्यास उत्पन्न किया जाता है तत्पष्चात् अन्य कार्य करने के लिए दिये जाते है प्रयोज्य नवीन या आगामी कार्य को भी पूर्व अनुभव के ही आधार पर करना चाहता है। यदि वर्तमान कार्य पूर्व करने के अनुरूप में है तो समाधान षीघ्र प्राप्त हो जाता है। अन्यथा प्रत्येक कठिनाई में पड़ जाता है और समाधान हेतु दूसरी प्रक्रिया का चयन करने में समय अधिक लग जाता है।

2) एक प्रयोग में एक निश्चित प्रक्रिया के आधार पर एनाग्राम्स का समाधान कराने के बाद प्रस्तुत एनाग्राम्स के समाधान पर पूर्वस्थापित क्यिास का स्पष्ट प्रभाव पाया गया है माल्ट्जमैन एवं) मारीसट्ट1953)। इस प्रयोग में प्रयोज्य ने बाद के एनाग्राम्स का समाधान उसी तरह करना चाहा जिस तरह वे उसके पूर्व के एनाग्राम्स को हल किए थे। इसलिए, इस प्रवृति को प्रकार्यत्मक स्थिरता कहा गया है।

6.3.3 समस्या समाधान की अवस्थाएँ-

समस्या समाधान के अन्र्तगत समस्या समाधान की अवस्थाओं का वर्णन आवश्यक है। सरल समस्याओं का समाधान जल्दी होता है और कठिन समस्याओं में समय अधिक लगता है।

समस्या समाधान में कितनी अवस्थाए होती है इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के अलग-अलग मत है। पहले के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समस्या समाधान की निम्न अवस्थाँए होती है।

(1) **तैयारी(Preparation):-** समस्या समाधान की पहली अवस्था तैयारी है। समस्या समाधान से सम्बन्धित तैयारी में वह समस्या से सबधित सूचनाओं को एकत्रित करता है और समस्या समाधान के प्राथमिक प्रयास करता है।

(2) **उद्भवन काल(Incubation period):-** यह दूसरी अवस्था है, यह तब प्रारम्भ होती है जब व्यक्ति प्राथमिक रूप से समस्या को हल करने में असफल हो जाता है। इस अवस्था में वह अपनी असफलता के कारण खोजाता है और समस्या समाधान पर अनेक प्रकार से ध्यान लगाता है।

(3) **प्रदीप्तन(illumination):-** यह समस्या समाधान की तीसरी अवस्था है। इस समस्या से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि भी कह सकते है। यह समस्या समाधान की वह अवस्था है कि जिसमें समस्या समाधानकर्ता को यह समझ आजाता है कि समस्या समाधान क्या है।

(4) **सत्यापन (verification):-** समस्या समाधान की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें व्यक्ति समस्या का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुसार क्रियान्वित करता है। आधुनिक युग में समस्या समाधान की निम्न प्रमुख अवस्थांए बतायी गयी है।

(i) समस्या का प्रत्यक्षपरक प्रतिनिधित्व-: समस्या का समाधन करते समय समस्या का प्रत्यक्षीकरण एक अति महत्वपूर्ण समस्या समाधान की अवस्था है। व्यक्ति जब तक समस्या के विभिन्न पक्षों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करेगा तब तक समस्या समाधान नहीं हो सकता। समस्या से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का प्रत्यक्षीकरण ही आवश्यक नहीं है बल्कि समस्या समाधान में यह प्रत्यक्षीकरण तभी सहायक होगा जब यह प्रत्यक्षीकरण समस्या का प्रतिनिधिक करता हुआ होगा। यदि आप प्रत्यक्षीकरण प्रतिनिधित्वपूर्ण न होकर त्रुटिपूर्ण है तो समस्या समाधान कठिन हो जाता है।

(ii) परिकल्पना एवं कार्यन्वयन (Vision and Implementation - प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में आये दिन समस्याओं का समाधान करता है। जीवन की यह समस्याँए गणितीय प्रकार की नहीं होती है। बहुधा इन समस्याओं के समाधान में यांत्रिक नियम लागू नहीं होते है। इन समस्याओं के समाधान के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार की रणनीतियों का प्रयोग करता है। कभी-कभी वह अंगूठा छाप नियमों के आधार पर भी समस्या का समाधान करता है। और कभी वह सादृष्य रणनीतियों, खोज रणनीतियों, अन्वेषणात्मक रणनीतियों का उपयोग करता है।

(iii) समाधान का मूल्यांकन (evaluation of solution) समस्या समाधान का यदि अवलोकन किया जाये तो किसी समस्या के समाधान के अनेक विकल्प हो सकते है। समस्या समाधान करते समय जब समस्या के कई विकल्प होते है तब व्यक्ति समस्या समाधान के इन विकल्पों का मूल्यांकन भी करता है। मूल्यांकन करते समय वह समस्या को कम समय, कम व्यय और कम परेशानी के साथ समाधान वाले उपायों को वह समस्या समाधान के लिए चुनता है।

समस्या समाधान का मूल्यांकन करते समय तब अधिक सरतता होती है जब समस्या सुपरिभाषित होती है। सुपरिभाषित समस्याँए वह होती है जिनका समाधान तार्किक आधार पर जांचा जा सकता है। दूसरे प्रकार की समस्या कुपरिभाषित समस्याँए होती है जिनके समाधान की जांच तार्किक आधार पर नहीं हो सकती है राइटमैन)1964) जीवन की बहुत सी समस्यांए सुपरिभाषित ना होकर कुपरिभाषित प्रकार की होती है। कुपरिभाषित समस्याओं के अनेक समाधान हो सकते है। लेकिन सुपरिभाषित समस्याओं के समाधान के अनेक विकल्प नहीं हो सकते है दूसरी ओर सुपरिभाषित समस्याओं का समाधान वस्तुनिष्ठ ढंग से संभव है।

6.4 समस्या समाधान व्यवहार के चरण

अनेक विद्वानों ने समस्या समाधान के चरणों को सूचीबद्व करने का प्रयास किया है फिर भी कोई सर्वमान्य राय नहीं बन पायी है। बैस(2001) तथा सैण्ट्राक (2005) ने निम्नलिखित चरणों का उल्लेख किया हे जो सुस्पष्ट व तार्किक है।

(1) समस्या की पहचान करना:- यह समस्या समाधान का प्रथम चरण है। इसका आशय यह है कि सर्वप्रथम हमें समस्या को जानने समझने का प्रयास करना पड़ता है ताकि समस्या संबधी विभिन्न पक्षो का चित्र मस्तिष्क में बन जाये। जैसे:- मान ले कि आप की गाड़ी स्टार्ट नहीं हो रही है, आप परेशान है तो अपको सोचना पडेगा कि कारण क्या है तेल है या नहीं बैटरी तो खत्म नहीं हो गयी। इंजन खराब तो नहीं है। इस पक्षों को समझे बिना समाधान संभव नहीं होगा।

(1) उपयुक्त समाधन उत्पन्न करनायह वह चरण है -:, जिसमें समस्या समाधान हेतु विकल्प तय किये जाते है। यह चरण साधारण प्रतीत हो सकता है परन्तु वास्तव में काफी जटिल है। कभी भी संभावित समाधान षून्य में पैदा नहीं होता है। इसके लिए गम्भीर चिन्तर मनन की आवश्यकता पड़ती है दीर्घकालीन स्मृति भण्डार में भण्डारित सूचनाओं का उपयोग करके समाधानों के विकल्प चुने जाते है। व्यक्ति का अनुभव तथा स्मृति भण्डार जितना अधिक विस्तृत होता है, समाधान के विकल्पों की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी। संभावित विकल्पों की अधिकाधिक संख्या चुनना समाधन के लिए अत्यधिक उपयोगी होगा।

(2) (2) समाधानों का मूल्यांकन:- समस्या के समाधान के लिये मास्तिष्क में जो उपाय विकसित होते है उनका मूल्यांकन आवश्यक होता है जैसे- समाधान के विकल्प से क्या लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा। क्या उसको प्रयुक्त करने में कोई बाधा है। क्या उसके कुछ प्रतिकूल परिणाम तो नहीं संभावित है। इन सभी पक्षों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

(3) समाधानों का उपयोग करना:- यह समस्या समाधान व्यवहार का अन्तिम चरण है। इस चरण में प्रयोज्य विकल्पो का उपयोग करके लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। ताकि यह तय हो सके की जो विचार मन में उत्पन्न हुआ वह सफल है या नहीं। जब तक विकल्पों की उपयोगिता की जाँच नहीं कर ली जाती है तब तक उनकी प्रभाविकता के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो उपाय मन में आया है यदि उससे सफलता हासिल हो जाती है तो उसे सफल उपाय माना जायेगा यदि उससे समस्या का समाधान नहीं होता है, तो समस्या के समाधान के लिए फिर से चिन्तन होगा।

6.5 सारांश

- समस्या समाधान एक महत्वपूर्ण संज्ञानात्मक क्रिया है। समस्या समाधान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति एक दी हुई समस्या की मौखिक अवस्था से लक्ष्य अवस्था तक पहुँचने की कोशिश करता है।

- समस्या समाधान की प्रकृति के तीन पहलू होते हैं।
- (1) समस्या 2) समाधान (3) समस्यात्मक स्थिति की प्रकृति समस्यात्मक स्थिति के तीन पहलू हैं:
- (i) मूल स्थिति (ii) नियम स्थिति (iii) लक्ष्य स्थिति
- मूल अवस्था में व्यक्ति समस्या का सामना करता है, लक्ष्य अवस्था वह अवस्था होती है जहाँ पहुँचना सामान्यतः कठिन होता है परन्तु व्यक्ति वहाँ पहुँचना चाहता है। नियम से तात्पर्य वैसे उपायों से होता है जिसे व्यक्ति मौखिक तथा लक्ष्य के बीच में लक्ष्य अवस्था तक पहुँचने में अपनाता है।

- समस्या समाधान के तीन निर्धारक तत्व होते हैं।

(1) समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ (2) समाधान की विशेषताएँ (3) समाधानकर्ता की विशेषताएँ

- समस्या समाधान की अवस्थाओं के बारे में मनोवैज्ञानिकों की अलग-अलग राय है। पहले के मनोवैज्ञानिको के अनुसार समस्या समाधान की निम्न अवस्था हैं:-

(1) तैयारी (2) उद्भवन काल (3) प्रदीप्तन (4) सत्यापन

- आधुनिक युग में समस्या समाधान की निम्न अवस्था है:-

(1) समस्या का प्रत्यक्षपरक प्रतिनिधित्व (2) परिकल्पना का कार्यन्वयन

(3) समाधान का मूल्यांकन

- समस्या समाधान व्यवहार के निम्नलिखित चरण बताये गये है मनोवैज्ञानिको द्वारा:-

(1) समस्या की पहचान करना (2) उपयुक्त समाधान उत्पन्न करना

(3) समाधानों का मूल्यांकन (4) समाधानों का उपयोग करना

6.6 शब्दावली

- **समस्या समाधान:** जब लक्ष्य के मार्ग में व्यवधान होता है, तो उसे उचित उपाय द्वारा प्राप्त करना समस्या समाधान कहा जाता है।
- **सत्यापन:** समस्या समाधान की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें व्यक्ति समस्या का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुसार क्रियान्वित करता है।

6.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) समस्यात्मक स्थिति के तीन पक्ष कौन कौन से है।-
2) समस्या समाधान तथा चिन्तन में क्या सम्बन्ध है ?

3) एनाग्राम्स क्या है?

4) प्रकार्यात्मक स्थिरता क्या है?

उत्तर: 1) (i) मूल स्थिति (ii) नियम स्थिति (iii) लक्ष्य स्थिति।

2) चिन्तन द्वारा समस्या का समाधान किया जाता है।

3) निरर्थक शब्दों के जोड़ो को एनाग्रम्स कहते है।

4) पूर्व में किये गये प्रयासो द्वारा समस्या का समाधान ढूंढना प्रकार्यत्मक स्थिरता।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञानडा :0 प्रीती वर्मा एवं डा0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, थ्वनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2
- उच्च प्रायोगिक मनोविज्ञानडा :0 आर0 एन0 सिंह एवं डा0 एस0 एस0 भारद्वाज, अग्रवाल पब्लिकेशन्स

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समस्या समाधान के विभिन्न चरणों का वर्णन करिए।
2. समस्या समाधान के निर्धारक तत्व कौन कौन से है-?
3. समस्यात्मक स्थिति की प्रकृति के बारे में संक्षिप्त में लिखिये।
4. टिप्पणी:
   i. समस्या समाधान तथा अभिप्रेरणा
   ii. समस्या समाधान की अवस्थाएँ
   iii. समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ
   iv. समस्या समाधान में मानसिक विन्यास की भूमिका

इकाई 7.संवेदन का अर्थ एवं स्वरुप, सांवेदिक प्रक्रिया: आँख एवं कान की संरचना एवं कार्य (Meaning and nature of Sensation, Sensory Process: Structure and Function of Human Eye And Ear)

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 संवेदन का अर्थ एवं स्वरुप
7.4 मानव नेत्र: संरचना एवं कार्य
7.5 मानव कान: संरचना एवं कार्य
7.5.1 बाह्य कर्ण
7.5.2 मध्य कर्ण
7.5.3 अन्तः कर्ण
7.5.4 श्रवण संवेदना की प्रक्रिया
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

मनोविज्ञान प्राणी के व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। मानव प्राणी का व्यवहार उसके अनुभव और आस-पास के वातावरण के परिप्रेक्ष्य में घटित होता है। वातावरण में विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाएँ रहती हैं जो मनुष्य के ग्राहक केन्द्रों को प्रभावित करती रहती हैं और व्यक्ति में उन ग्राहक केन्द्रों से सम्बद्ध तरह-तरह की संवेदनाओं की उत्पत्ति होती रहती है। ये संवेदनाएँ अर्थ पाकर प्रत्यक्षीकरण का रूप धारण करती हैं और इस प्रकार व्यक्ति का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है।

मानव व्यवहार को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि व्यक्ति की ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को जानें और इसके लिए ज्ञानात्मक अंगों की संरचना, कार्य व संवेदी प्रक्रियाओं को जानना आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में मानव प्राणी के दो महत्वपूर्ण संवेदी अंगों-आँख और कान की संरचना एवं कार्य के बारे में आप जान सकेंगे एवं इन अंगों द्वारा होने वाली संवेदी प्रक्रियाओं का अध्ययन भी कर सकेंगे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

- सांवेदिक प्रक्रियाओं को भलीभांति समझ सकें।-
- सांवेदिक प्रक्रियाओं में संवेदी अंगों की भूमिका से अवगत हो सकें।
- आँख की संरचना, कार्य तथा दृष्टि संवेदना की उत्पत्ति में आँखों की भूमिका रेखांकित कर सकें।
- कान की संरचना, कार्य तथा श्रवण संवेदना की उत्पत्ति में कानों की भूमिका पर प्रकाश डाल सकें।

7.3 संवेदन का अर्थ एवं स्वरुप

मनोविज्ञान का स्वरूप एवं इसकी परिभाषा पर विचार करते समय यह स्पष्ट चर्चा की कि ''मनोविज्ञान प्राणी और वातावरण से सम्बद्ध अनुभव और व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।'' इसके केन्द्र में मनुष्य है और वह एक खास तरह के वातावरण में रहता है। इस वातावरण की उत्तेजनाएँ व्यक्ति को खास प्रकार की अनुक्रिया करने के लिए बाध्य करती हैं। इसीलिए मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया(Stimulus-Organism-Response) सूत्र के आधार पर की जाती है।

मानव व्यवहार अथवा उसकी अनुभूतियों (sensations) के बारे में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि पहले व्यक्ति के ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को समझें तथा फिर ज्ञानात्मक अंगों की संरचना और कार्य को जानें।

दरअसल, व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित होने वाली विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं का ज्ञान उसकी ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) द्वारा प्राप्त होता है। वातावरण की उत्तेजनाएँ सम्बद्ध ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) या ग्राहक केन्द्रों को उत्तेजित करती हैं जिससे स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह स्नायु-प्रवाह ज्ञानवाही तंत्रिका कोशों की सहायता से सुषुम्ना से होता हुआ मस्तिष्क के विशेष भाग में पहुँचता है, जिससे एक मानसिक क्रिया उत्पन्न होती है। यह मानसिक क्रिया अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है, जिसे संवेदना कहते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना को ही प्रथम मानसिक ज्ञानात्मक प्रक्रिया कहा है जिसमें व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं का तात्कालिक आभास मात्र ज्ञान प्राप्त होता है।

संवेदन की प्रक्रिया में उत्तेजना के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण ज्ञान का अभाव होता है। इसमें व्यक्ति केवल उपस्थित उत्तेजनाओं के स्वरूप, अर्थात् आकार, प्रकार, रंग एवं उसकी तीव्रता इत्यादि के संबंध

में सूचनाएँ प्राप्त करता है और इन सूचनाओं को संगठित कर पूर्व अनुभवों का उपयोग करते हुए जब उनमें किसी निश्चित अर्थ को जोड़ देता है तो संवेदना अवगम में परिणत हो जाती है। इसीलिए संवेदना को अवगम से पहले की प्रक्रिया माना गयी है।

तो स्पष्ट है कि संवेदना मानसिक ज्ञान की प्रारंभिक प्रक्रिया है जो ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) से ग्राहकों के उत्तेजित होने के फलस्वरूप होती है। संवेदनाओं के कई प्रकार हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) या ग्राहक अंगों से सम्बन्धित हैं। जैसे-आँख हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ है और इससे सम्बन्धित संवेदना दृष्टि संवेदना कहलाती है, कान ज्ञानेन्द्रियाँ है और इससे सम्बन्धित संवेदना श्रवण संवेदना कहलाती है। इसी प्रकार, नाक, जीभ और त्वचा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनसे सम्बद्ध संवेदनाओं को क्रमश: श्रवण संवेदना, स्वाद संवेदना तथा स्पर्श संवेदना की संज्ञा देते हैं। इन संवेदनाओं में आँख और कान से संबद्ध संवेदनाओं, अर्थात् दृष्टि और श्रवण संवेदनाओं पर यहाँ हम विशेष चर्चा करेंगे और इसके लिए पहले आवश्यक है कि हम आँख और कान की बनावट तथा कार्य का अवलोकन करें। आगे हम आँख की संरचना और कार्य के साथ ही दृष्टि संवेदना सम्पन्न होने की क्रिया पर भी विचार करेंगे तथा इसी तरह कान की संरचना और कार्य के साथ श्रवण संवेदना सम्पन्न होने की क्रिया पर चर्चा करेंगे।

7.4 मानव नेत्र: संरचना एवं कार्य:

मानव आँख की तुलना एक कैमरे से की जा सकती है। इसमें तस्वीर अंकित करने के लिए एक प्लेट होती है, तथा आँखों में वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए अक्षिपट(Retina) होता है। प्रकाश आँख के खुले भाग, जिसे पुतली कहते हैं, से अक्षिपट में ग्राहक -पट पर पड़ता है। अक्षि-। फलस्वरूपं◌ कोश पाए जाते हैं जो दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिंबित प्रकाश की तरंगों को ग्रहण करते है, ग्राहक कोश कार्यशील होता है और दृष्टि स्नायुप्रवाह उत्पन्न होता है, जो दृष्टि स्नायु द्वारा मस्तिष्क के पृष्ठखंड में पहुँचता है, जहाँ उक्त वस्तु की विशेषताओं के प्रभाव स्नायुतंत्र पर अंकित होते हैं और तब व्यक्ति में उस वस्तु की संवेदना होती है।

मानव आँखें सिर के क्षेत्र में ललाट के ठीक नीचे गड्डों में स्थित हैं। ये गेंद की तरह गोल आकृति के होते हैं, इसलिए इन्हें नेत्रगोलक कहते हैं। नेत्रगोलक का थोड़ा सा भाग बाहर से दिखाई पड़ता है और शेष भाग गड्ढे के भीतर रहता है। नेत्रगोलक में तीन परतें पाई जाती हैं-

क. श्वेत पटल (Sclerotic coat)

ख. मध्यपटल(Choroid)

ग. अक्षिपट(Retina)

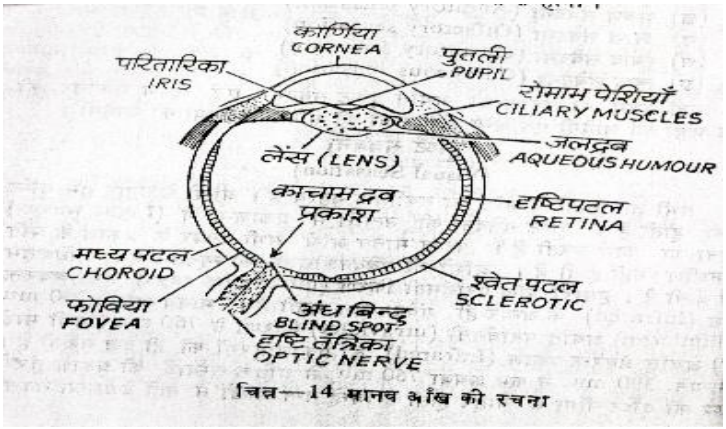

चित्र—14 मानव आँख की रचना

1) **श्वेत पटल (Sclerotic coat) -**यह आँख की सबसे बाहरी या ऊपरी परत है, जो सफेद रंग का होता है। यह अपारदर्शी होता है, फलस्वरूप प्रकाश इससे होकर अन्दर की ओर नहीं जा पाता। श्वेत-पटल के आगे का भाग थोड़ा सा उभरा हुआ होता है। इस उभरे भाग को कनीनिका (कॉर्निया) कहते हैं। श्वेत-पटल का केवल यही भाग पारदर्शी होता है। इसी के द्वारा प्रकाश आँखों में प्रवेश करता है। श्वेत पटल (Sclerotic coat) की मोटाई लगभग 5 मि.ली. होती है तथा आँख के अन्य भागों की अपेक्षा यह कड़ा और मजबूत होता है। इस परत के कड़ा होने तथा मजबूत होने से 'लेंस' और 'उपतारा' की बाहरी आघातों से रक्षा होती है।

   श्वेत पटल (Sclerotic coat) का मुख्य कार्य नेत्र के कोमल भागों को बाहरी आघातों से सुरक्षा प्रदान करना है।

2) मध्यपटल(Choroid) यह नेत्र के मध्य का आवरण है जो श्वेत-पटल के नीचे स्थित होता है। मध्य-गोलक -पटल एक गहरे रंग की परत होती है जो सामान्यतः काले या भूरे रंग की होती है तथा नेत्र का5/6 भाग होती है। यह भी श्वेतउधर के -पटल की तरह पूर्णतः अपारदर्शी होता है। यह इधर-अनावश्यक प्रकाश को आँखों में जाने से रोकता है।

मध्य-पटल के उभरे हुए अग्रभाग को उपतारा कहते हैं। उपतारा कनीनिका (कॉर्निया) के पिछले भाग में रहती है। कनीनिका (कार्निया) और उपतारा के बीच का भाग खाली रहता है, जिसमें जलद्रव भरा रहता है। उपतारा के मध्य में थोड़ा रिक्त स्थान होता है जो छिद्र की तरह प्रतीत होता है, पुतली कहलाता है। पुतली के द्वारा ही बाहर का प्रकाश आँख के भीतरी भाग में पहुँचाता है। उपतारा आँख की पुतली पर नियंत्रण रखती है। प्रकाश की तीव्रता के अनुसार उपतारा के फैलने या सिकुड़ने के फलस्वरूप पुतली का आकार बड़ा या छोटा हो जाता है। कम प्रकाश की स्थिति में पुतली का आकार बड़ा या छोटा हो जाता है। कम प्रकाश की स्थिति में पुतली बड़ी हो जाती है और तीव्र प्रकाश रहने पर पुतली छोटी हो जाती है। इस प्रकार, पुतली प्रकाश की तीव्रता के अनुरूप अभियोजित होती है जिससे जरूरत के मुताबिक अधिक या कम मात्रा में (मंद प्रकाश में अधिक और तीव्र प्रकाश में कम-प्रकाश (किरण

आँख की रेटिना में प्रवेश करता है। पुतली का बड़ा या छोटा होना उपतारा की क्रिया पर निर्भर करता है। उपतारा 'सिलियरी मांसपेशी' से संबद्ध रहता है, जो स्वतःचालित स्नायुतंत्र से संचालित होती है।

स्वतःचालित स्नायु-तंत्र के अनुकम्पी तंत्र के प्रभाव से उपतारा पीछे की ओर हटती है जिससे पुतली का आकार बढ़ जाता है और अधिक मात्रा में प्रकाश-तरंग आँख के अंदर प्रवेश करती है, लेकिन तीव्र प्रकाश की स्थिति में सहानुकम्पी तन्त्र कार्यशील होता है, जिसके प्रभाव से उपतारा फैलकर आगे की ओर आती है जिससे पुतली का आकार छोटा हो जाता है। इस प्रकार, पुतली के आकार का बड़ा या छोटा होना प्रकाश की मात्रा से नियंत्रित होता है तथा इस क्रिया (बड़ा या छोटा होने की क्रिया) का संचालन स्वतःचालित स्नायुतंत्र द्वारा सिलियरी मांसपेशी के पीछे की ओर लौटने और आगे की ओर बढ़ने की क्रिया द्वारा होता है।

उपतारा के पीछे लेंस रहता है। यह पारदर्शी झिल्ली का बना होता है तथा सामान्य स्थिति में यह उभयोत्तल आकार का होता है। लेंस दोनों ओर से कुछ पतली तार जैसी मांसपेशियों से जुड़ी रहती है, जिसे 'सस्पेंसरी लिगामेंट' कहते हैं। इस मांसपेशी के कारण ही लेंस अपनी जगह पर संतुलित रूप से रहता है।

लेंस चारों ओर से रोमाभ पेशियों से घिरा रहता है। पुतली से होकर जो प्रकाश आँख में प्रवेश करता है, उसे लेंस दृष्टिपटल तक पहुँचा देता है। लेंस के आकार का नियंत्र-ण रोमाभ पेशियों की सहायता से प्रतिवर्तित रूप में होता रहता है। दूर की वस्तुएँ देखते समय रोमाभ पेशियाँ फैल जाती हैं जिससे लेंस का आकार बड़ा हो जाता है। इसके विपरीत नजदीक की वस्तुएँ देखते समय ये पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं, फलस्वरूप लेंस छोटा हो जाता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि लेंस का छोटा एवं उभरा अथवा बड़ा और पतला या चपटा होना रोमाभ पेशियों के सिकुड़ने या फैलने की क्रिया पर निर्भर करता है।

इन मांसपेशियों के सिकुड़कर छोटे होने पर लेंस फूल जाता है, जिससे इसकी वक्रता बढ़ जाती है तथा इन्हीं मांसपेशियों के फैलकर आगे की ओर बढ़ने पर लेंस बड़ा और चपटा हो जाता है, जिससे इसकी वक्रता घट जाती है। लेंस की सतह की वक्रता के बढ़ने और घटने की इस क्रिया को समायोजन कहते हैं। इस समायोजन के फलस्वरूप ही दूरी के अनुसार वस्तुओं का प्रतिबिम्ब रेटिना पर स्पष्ट रूप से बनता है।

3) लेंस के पीछे की जगह में 'काँच-द्रव भरा रहता है। यह एक पारदर्शी द्रव है। इसका मुख्य कार्य आँख के स्वरूप या नेत्रगोलक के गोल आकार को कायम रखना है।

4) **अक्षि- पटल-**अक्षिपटल (Retina) आँख की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण परत है। यह आँख की सर्वाधिक संवेदनशील परत है और कोशिकाओं एवं तंत्रिका तंतुओं से निर्मित है। इन सभी

कोशिकाओं को ग्राहक कोशिकाएँ कहते हैं। अक्षि-पट या अक्षिपटल (Retina) जिसे दृष्टि-पटल भी कहते हैं, के द्वारा प्रकाश को ग्रहण किया जाता है। श्वेत-पटल एवं मध्य-पटल का कार्य प्रकाश तरंगों को दृष्टि-पटल तक पहुँचा देना है। अक्षि-पटल की ग्राहक-कोशिकाएँ इन प्रकाश-तरंगों को ग्रहण कर लेती हैं। ये ग्राहक-कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं-

अ. दण्ड या शलाकाएँ

ब. सूचियाँ या शंकु

- मानव नेत्र में शलाकाओं एवं सूचियों की संख्या करोड़ों में है। शलाकाएँ एवं सूचियाँ केवल अपनी रचना में ही नहीं, अपितु कार्य में भी एक-दूसरे से भिन्न हैं।
- शलाकाएँ लम्बी और पतली होती है जबकि सूचियाँ छोटी और मोटी होती हैं। (शंकु)
- • दण्ड या शलाकाएँ मंद अथवा धूमिल प्रकाश में कार्य करती हैं, अर्थात् इनसे मंद प्रकाश की संवेदना होती है। अतः इन कोशों द्वारा रंगहीन यानि उजला, काला या भूरा अथवा अंधेकार की संवेदना होती है। दूसरी ओर सूचियाँ तेज प्रकाश में क्रियाशील होती हैं अर्थात् सूचि से तीव्र प्रकाश अथवा विभिन्न प्रकार के रंगों की संवेदना होती है। इनमें प्रकाश-तरंगों की लम्बाई के अनुसार रंग-विभेदन की क्षमता पायी जाती हैं। इनसे रंगीन एवं रंगहीन प्रकाश दोनों का अनुभव होता है। जैसे- काला, भूरा, श्वेत, लाल, हरा, नीला एवं पीला सभी रंग दिखाई पड़ते हैं।
- श्लाकाओं में एक प्रकार का रंग पाया जाता है जिसे 'रोडोप्सिन' कहते हैं। यह एक जैवरासायनिक - रासायनिक-द्रव्य है जिनमें विटामिन ए पाया जाता है। जबकि सूचियों में जो जैवद्रव्य पाया जाता है उसे आयोडोप्सिन कहते हैं।
- ऐसा अनुमान है कि मनुष्य की एक आँख में शलाकाओं की संख्या 11 करोड़ से 12 करोड़ के बीच है दूसरी ओर सूचियों की संख्या 63 से 68 लाख के बीच हैं। लेकिन हमारे अक्षिपटल पर - इसका वितरण समान नहीं है। इसकी संख्या कहीं अधिक और कहीं कम रहती है। कहीं पर दंड या शलाकाएँ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं तो कहीं पर सूचि।
- रेटिना परिधीय क्षेत्र-में तीन क्षेत्र पाये जाते हैं (पटल-अक्षि), मध्यक्षेत्र- एवं केन्द्रीय क्षेत्र। परिधीय क्षेत्र में केवल शलाकाएँ , मध्य क्षेत्र में सूचियाँ एवं शलाकाएँ दोनों तथा केन्द्रीय क्षेत्र में केवल सूचियाँ ही पायी जाती हैं।

• अक्षि-पटल के मध्य में एक पीले रंग का गहरा स्थल पाया जाता है जिसे 'पीत बिन्दु' कहते हैं यह एक संवेदनशील भाग है। इसमें केवल सूचियाँ ही पायी जाती हैं जो बहुत पतली और घनी है। पीत-बिन्दु से दूरी बढ़ने के साथ-साथ सूचियों की संख्या में कमी होने लगती है एवं शलाकाओं की संख्या में वृद्धि होने लगती है। पीत बिन्दु में केवल सूचियाँ होने के कारण इस पर पड़ने वाली प्रतिमा बहुत स्पष्ट

दिखाई पड़ती है। इसलिए इसे 'स्पष्टतम् दृष्टि बिन्दु' भी कहते हैं।तेज प्रकाश में अधिकतर व्यक्ति 'फोविया' यानि पीतबिन्दु से ही काम लेता है। मंद प्रकाश में पीत बिन्दु से दिखाई नहीं पड़ता है।

दृष्टि संवेदना की प्रक्रिया-

अक्षि-पटल कें जिस स्थान से दृष्टि-स्नायु निकलते हैं, उस स्थान को अंधे बिन्दु कहते हैं। इस स्थान पर सूचि एवं शलाकाएँ में से कोई भी ग्राहक कोश नहीं पाये जाते। अतः जब प्रकाश अक्षिपट(Retina) ल के इस भाग पर पड़ता है, तब दृष्टि-संवेदना नहीं होती। लेकिनकुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोज्यों में देखा कि अधिक तीव्र प्रकाश होने पर अंधे-बिंन्दु क्रियाशील हो जाता है। इसलिए, विश्वास किया जाता है कि इस स्थान पर भी शलाकाएँ तथा सूची सीमित मात्रा में वर्तमान है। फिर भी, इस संबंध में कोई निश्चित मत नहीं है।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि प्रकाश-तरंगों को सर्वप्रथम आँखें ग्रहण करती हैं। ये प्रकाश-तरंगें कनीनिका, जल-द्रव और पुतली से होती हुई लेंस पर पड़ती हैं। लेंस उन्हें अक्षि-पटल में भेज देता है। प्रकाश-तरंगें जब अक्षि-पटल पर पहुँचती हैं तो वहाँ की शलाकाएँ एवं सूचियाँ उत्तेजित होकर तंत्रिका-आवेग उत्पन्न करती हैं। यह तंत्रिका-आवेग दृष्टि-स्नायुओं द्वारा कॉर्टेक्स के दोनों दृष्टि खंडों में चला जाता है जहाँ दृष्टि-संवेदना होती है। दृष्टि-खंड में साहचर्य क्षेत्र हैं जो देखी हुई वस्तु का अर्थ बतलाते हैं तब उस वस्तु का अवगम होता है।

7.5 मानव कानसंरचना एवं कार्य :

कान श्रवण-संवेदना की ज्ञानेन्द्रिय है और ध्वनि-तरंगों से इसे उत्तेजना प्राप्त होती है। जब किसी पदार्थ में कम्पन्न होता है तो उससे वायु में लहरें पैदा होती हैं जो वायु के साथ आगे की ओर बढ़ती हैं। इन्हें ही ध्वनि तरंगें कहते हैं। मानव कान इन्हीं ध्वनि-तरंगों को ग्रहण करता है। मानव कान के द्वारा ध्वनि तरंगें किस रूप में ग्रहण की जाती है एवं कैसे श्रवण-संवेदना होती है, इसे जानने के लिए कान की रचना एवं कार्यों को जानना आवश्यक है।

अध्ययन के दृष्टिकोण से कान को तीन भागों में बाँटा गया है

-

क. बाह्य कर्ण

ख. मध्य कर्ण

ग. आन्तरिक या अन्तः कर्ण

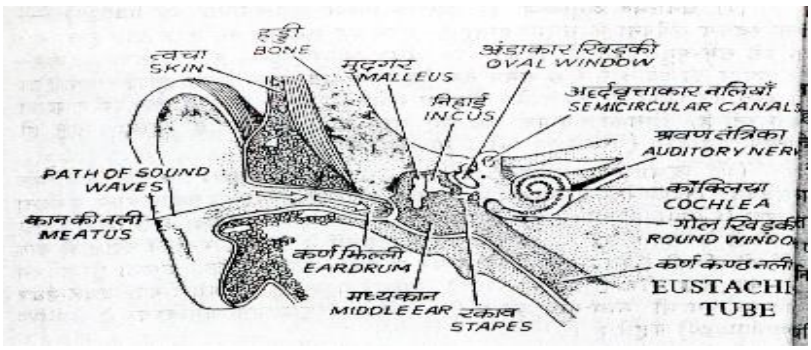

7.5.1 बाह्य कर्ण या कान -

कान का वह भाग जो बाहर से दिखाई पड़ता है, उसे बाह्य कर्ण कहते हैं। इसके दो भाग होते हैः - 1. पिन्ना 2. कर्णनली-

1) **1) पिन्ना -** कान से सटा हुआ जो भाग बाहर की तरफ निकला हुआ होता है, उसे पिन्ना कहते हैं। यह कार्टिलेज नामक मुलायम हड्डी से निर्मित होता है। पिन्ना कोई विशेष कार्य नहीं करता है, क्योंकि इस संबंध में किए गये प्रयोगों से यह विदित होता है कि कान के इस भाग को जड़ से काट देने पर भी श्रवण-संवेदना में कोई क्षति नहीं पहुँचती। लेकिन, मनुष्य के चेहरे की सुंदरता एवं शोभा बनाये रखने में इसका महत्व है। पशुओं में कान के इस भाग का महत्व कुछ विशेष है। जानवरों में, विशेषकर कुत्तों में पिन्ना चारों ओर से आने वाली ध्वनि तरंगों को एकत्रित करते हैं तथा उनकी दिशा मालूम करते हैं।
2) **कर्ण-नली-** कर्ण-नली पिन्ना की जड़ से प्रारंभ होकर कर्णढोल तक फैली लंबी नलिका है जिसकी औसत लंबाई 25 मिलीमीटर है। कर्ण नली का भीतरी छोर जहाँ पर समाप्त होता है, वहाँ कान का एक 'पर्दा' होता है जिसे कर्णढोल कहते हैं। यह पर्दा बारीक मेंब्रेन या झिल्ली से बना होता है इसलिए इसे टिम्पैनिक मेंम्ब्रेन या टिम्पैनम भी कहते हैं। कर्ण नली में छोटे-छोटे केश तथा विषैले मैल भरे रहते हैं। यह मैल विभिन्न कीड़े-मकोड़ों तथा अन्य वस्तुओं से कण-झिल्ली की रक्षा करती हैं। यह नली कुछ टेढ़ी होती है। तथा पिन्ना से टकराकर आने वाली ध्वनि तरंगों को आगे की ओर भेजाती है। ये ध्वनि-तरंगें कर्णढोल या कर्ण-झिल्ली से टकराती हैं। यह झिल्ली बहुत ही अधिक कोमल एवं संवेदनशील होती है। अतः ध्वनि-तरंगों के टकराने से इसमें तीव्र कम्पन होते हैं। कर्ण ढोल के बाद मध्य-कर्ण प्रारम्भ होता है।
3) बाह्य कर्ण का मुख्य कार्य वायु तरंगों को ग्रहण कर कर्णनली द्वारा कर्णढोल तक संचारित करना होता है जिसके फलस्वरूप 'कर्णढोल' प्रकंपित होने लगता है।

7.5.2 मध्य कर्ण-

मध्य कर्ण की सीमा की शुरूआत कर्णढोल अर्थात् टिम्पैनम से होती है तथा इसकी दूसरी सीमा हड्डीदार दीवार की अंडाकार खिड़की से लगी रहती है। इस हड्डीदार दीवार में ही एक ओर खिड़की होती है, जिसे गोलाकार खिड़की कहते हैं। ये दोनों खिड़कियाँ मेंब्रेन युक्त होती है।

कर्ण-झिल्ली या कर्ण ढोल के पीछे तीन हिलने-डुलने वाली हड्डियाँ होती हैं। ये तीनों हड्डियाँ एक दूसरे से सटी हुई हैं। इन्हें इनके कार्य के आधार पर मुद्गर या हथौड़ा, निहाई एवं रकाब कहते हैं। 'मुद्गर से सटी हुई 'निहाई' रहती है तथा 'निहाई' से सटी हुई 'रकाब' होती है। रकाब के साथ छोटी सी मांसपेशी जिसे स्टॉपेडियस कहते हैं, संबंधित रहता है। इसकी सहायता से 'रकाब' अंडाकार खिड़की में अच्छी तरह फिट कर जाती है।

मध्य-कर्ण में कर्ण ढोल के दोनों ओर वायु के दबाव को नियंत्रित रखने के लिए एक नली है, जिसे 'कर्ण-कंठनली' या 'कण्ठ-कर्ण नली' कहते हैं। यह नली कण्ठ तक चली गयी है यानि कान को कण्ठ से मिलाती है तथा इसका प्रधान कार्य कर्णढोल के भीतर और बाहर की हवाओं के दबाव को संतुलित रखना है। जैसे-अचानक तेज और कर्कश आवाज होने पर वायु-चाप के कारण मुँह खुल जाता है और वायु के साथ कमपन बाहर निकल जाता है। इससे हमारे कर्ण-ढोल की रक्षा होती है। अगर यह नली हमारे कान में न होती तो तीव्र वायु चाप से कर्ण ढोल को क्षति पहुँचने की संभावना होती जिससे हमारी श्रवण क्षमता प्रभावित होती।

जब ध्वनि तरंगें 'कर्ण ढोल' (कर्ण झिल्ली') से टकराती हैं तो उनके संपर्क से कर्ण ढोल में मन्द प्रकम्पन होने लगते हैं। इनसे मुद्गर निहाई और रकाब में क्रमशः कम्पन होने लगता है। इन हड्डियों में कम्पन होने से ध्वनि-तरंगों की तीव्रता में लगभग तीस गुनी वृद्धि हो जाती है, जो ध्वनि-तरंगों को अन्तःकर्ण तक पहुँचाने में सहायक होती है। रकाब के प्रकम्पित होने से अंडाकार खिड़की द्वारा प्रकम्पन अन्तःकर्ण में पहुँचता है। अतः कह सकते हैं कि मध्यकर्ण में इन तीनों हड्डियों की एक ऐसी स्वाभाविक व्यवस्था है जिसकी सहायता से ध्वनि-तरंगें बाह्-कर्ण से अन्तःकर्ण में पहुँचती है।

7.5.3 अन्तः कर्ण या आंतरिक कर्ण (Inner ear)

कान के दूसरे भागों की तुलना में अन्तःकर्ण की रचना सबसे जटिल है। यह अंडाकार खिड़की से प्रारंभ होकर कोर्टि अंग एवं अर्द्धवृत्ताकार (चंद्राकार) नली तक फैला हुआ है। यह कनपट्टी की हड्डी के भीतर सुरक्षित रूप में स्थित है। इसकी दीवार एक प्रकार की पतली झिल्ली से ढँकी रहती है जिसके ऊपरी भाग में एँडोलिम्फ नामक तरल पदार्थ निरंतर भरा रहता है। यह तरल पदार्थ भी एक दूसरे तरल पदार्थ के ऊपर आश्रित रहता है जिसे पेरिलिंफ कहते हैं। अंतःकर्ण की संपूर्ण रचना दो प्रकार की परतों से

घिरी रहती है। ऊपरी परत झिल्लीदार होती है, इसलिए इसे झिल्लीदार लेबिरिंथ कहते हैं, इसकी भीतरी दीवार हड्डियों से बनी होती है, इसलिए इसे हड्डीदार लेबिरिंथ कहते हैं।

अतं: कर्ण के दो प्रमुख भाग हैं-

1. अर्द्ववृत्ताकार नलियाँ या अर्द्धचंद्राकार नलियाँ 2. कॉक्लिया

1) **1) अर्द्ववृत्ताकार नली**-(semicircular canal) यह शारीरिक संतुलन बनाये रखता है। इस नली में एक तरल पदार्थ भरा रहता है। जब इस तरल पदार्थ में गति उत्पन्न होती है तो व्यक्ति का शारीरिक संतुलन भंग हो जाता है और वह चक्कर खाकर गिर जाता है। जैसे-एक स्थान पर खड़ा होकर चक्कर काटने से व्यक्ति गिर जाता है। इस प्रकार इन नली का प्रधान कार्य श्रवण संवेदना के समय शारीरिक संतुलन बनाये रखना है। श्रवण-संवेदना के लिए इस नली का कोई विशेष महत्व नहीं है।

2) कॉक्लिया(Cochlea) कॉक्लिया का आकार घोंघे की तरह चक्राकार होता है तथा इसमें ढाई लपेट देखने को मिलता है। यह एक लम्बी नली है जो आधार से शीर्ष तक क्रमशः पतली होती जाती है। इसकी नली में तरल पदार्थ भरा रहता है।

कॉक्लिया में तीन प्रधान नलियाँ हैं-

1. स्कालावेस्टिबुलि या बेस्टिबुलर कैनाल(vestibular canal)
2. टिम्पैनिक कैनाल या कर्णपटह नली(Tympanic membrane)
3. कॉक्लिया कैनाल या कर्णावर्त नली(Cochlear canal)

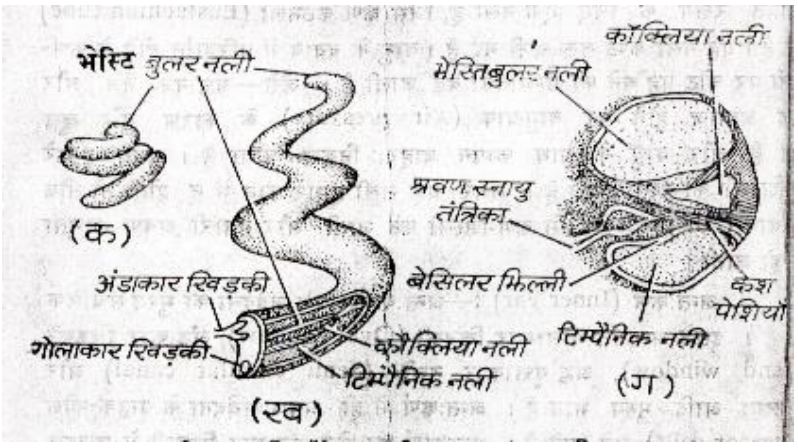

वेस्टीब्यूलर नली का प्रारम्भ अण्डाकार खिड़की से होता है और यह कॉक्लिया के शीर्ष तक चली गयी है। इस नली में जो तरल पदार्थ भरा रहता है, उसे पेरिलिम्फ या परिलसिका कहते हैं।

वेस्टीब्यूलर या प्रघाण नली अंडाकार खिड़की तक आये हुए ध्वनि-प्रकम्पन को ग्रहण करती है और इसे कॉक्लिया के शीर्ष तक पहुँचाती है।

टिम्पैनिक या कर्णपटह नली कॉक्लिया के आधार से शीर्ष तक फैली हुई है। इस नली के अंदर पाये जाने वाले तरल पदार्थ को भी पेरीलिम्फ या परिलसिका कहते हैं। टिम्पैनिक नली ध्वनि-प्रकम्पन को वेस्टीब्यूलर नली से ग्रहण करती है।

कॉक्लिया या कर्णावर्त नली वेस्टीब्यूलर नली एवं टिम्पैनिक नली के बीच स्थित है। इस नली में भी एक तरल पदार्थ भरा होता है, जिसे एन्डोलिम्फ या अंतर्लसिका कहते हैं।

कॉक्लिया नली एवं टिम्पैनिक नली के बीच आधार झिल्ली या बेसिलर झिल्ली पायी जाती है यानि इन दोनों नलियों को बेसिलर झिल्ली अलग करती है। टिंपैनिक (कर्णपटह नली) को स्काला मिडिया के नाम से भी पुकारा जाता है। इसी प्रकार कॉक्लिया नली एवं वेस्टीब्यूलर नली के बीच राइसनेर झिल्ली पायी जाती है तथा टिंपैनिक नली एवं वेस्टीब्यूलर नली को अलग करने वाली झिल्ली टेक्टोरियल मेंब्रेन (tympanic membrane) कहलाती है। कॉक्लिया के शीर्ष के निकट राइसनेर झिल्ली और आधार झिल्ली एक दूसरे से मिल जाती है। इस स्थान को हेलीकोट्रीमा कहते हैं। यह टिम्पैनिक नली एवं कॉक्लिया नली को मिलाने का कार्य करता है। कॉक्लिया नली राइसनेर-झिल्ली एवं आधार झिल्ली के बीच में स्थित है। इस आधार-झिल्ली में श्रवण-संवेदना का सबसे मुख्य अंग है, जिसे 'कोर्टि-अंग' कहते हैं। 'कोर्टि अंग' में अनेक केश-कोशिकाएँ ऊपर से नीचे तक फैली रहती हैं ये केश-कोशिकाएँ ध्वनि-तरंगों के प्रति अधिक संवेदनशील होती हैं। 'बेसिलर मेंब्रेन' के ऊपर एँडोलिम्फ (अंतर्लसिका) नामक तरल पदार्थ में ये 'केश-कोशिकाएँ' सेवार के घास की तरह तीन पंक्रियों में फैली रहती हैं। इन केश-कोशिकाओं का संबंध श्रवण तंत्रिकाओं से रहता है। केश-कोशिकाएँ ही 'श्रवण-ग्राहक' का कार्य करती है।

7.5.4 श्रवण संवेदना की प्रक्रिया –

जब मध्य कर्ण से आया हुआ प्रकमपन आधार-झिल्ली को प्रकम्पित करता है तो इनके केश-कोशिकाओं में भी प्रकम्पन होने लगता है। इनकी उत्तेजना से श्रवण-तंत्रिकाओं या श्रवण-स्नायुओं में तंत्रिका आवेग बनते हैं। ये तंत्रिका आवेग कॉक्लिया से बाहर निकलकर श्रवण तंत्रिकाओं में आते हैं। श्रवण-तंत्रिकाओं की संख्या लगभग तीस हजार होती है। श्रवण-तंत्रिकाओं के द्वारा तंत्रिका-आवंग कॉर्टेक्स के दोनों श्रवण खंडों में जाते हैं। फलस्वरूप व्यक्ति को श्रवण-संवेदना होती है।

इससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम ध्वनि तरंगों को बाह्य-कर्ण एकत्र कर कर्ण-नली के रास्ते मध्य-कर्ण में स्थित कर्ण-ढोल तक पहुँचा देता है। कर्ण ढोल के प्रकम्पित होते ही इससे सटी तीनों हड्डियों (मुद्गर, निहाई तथा रकाब) में भी प्रकम्पन होने लगता है। कर्ण-झिल्ली का प्रकम्पन अंडाकार खिड़की तक पहुँचता है। यहाँ ध्वनि-प्रकम्पन बाइस गुना अधिक बढ़ जाता है। इसके साथ ही रकाब का प्रकम्पन अंडाकार खिड़की को प्रकम्पित करते हुए कॉक्लिया के वेस्टीब्यूलर नली के पेरीलिम्फ (परिलसिका) नामक तरल पदार्थ में पहुँचकर हलचल उत्पन्न करता है। इस हलचल से टिम्पैनिक (कर्णपटह) नली के पेरीलिम्फ (परिलसिका) में भी प्रकम्पन उत्पन्न होता है। इस कारण इन दोनों नलियों के बीच स्थित आधार-झिल्ली (बेसिलर मेंम्ब्रेन) में प्रकम्पन होने लगता है। तत्पश्चात् यह प्रकम्पन कॉक्लिया के 'कोर्टि अंग' में जाता है जिसके फलस्वरूप कॉक्लिया-नली के भीतर 'एण्डोलिम्फ' (अंतलैसिका) नामक तरल पदार्थ में भी प्रकम्पन होने लगता है और 'केश कोशिकाएँ' उत्तेजित हो जाती हैं। इनके उत्तेजित होने से वहाँ तंत्रिका-आवेग बनते हैं, जो श्रवण-स्नायु द्वारा कॉर्टेक्स के दोनों गोलार्द्धों के दोनों श्रवण-खण्डों में जाते हैं। श्रवण-खण्डों में स्थित संवेदी क्षेत्र में जैसे ही तंत्रिका-आवेग पहुँचते हैं, श्रवण-संवेदना होने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक कान का संबंध कॉर्टेक्स के दोनों गोलार्द्धों के दोनों श्रवण-खण्डों से है। फलस्वरूप किसी एक खंड में क्षति होने से कान की केवल आधी श्रवण-क्षमता घटती है। जब श्रवण-खण्डों (दोनों गोलार्द्धों के) संवेदी क्षेत्र को नष्ट कर दिया जाये तो व्यक्ति में बहरापन उत्पन्न होता है|

7.6 सारांश

- वातावरण की उत्तेजनाएँ सम्बद्ध ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) को उत्तेजित करती हैं जिससे स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह स्नायु-प्रवाह ज्ञानवाही तंत्रिका-कोशों की सहायता से सुषुम्ना से होता हुआ मस्तिष्क के विशेष भाग में पहुँचता है जिससे एक मानसिक क्रिया उत्पन्न होती है। यह मानसिक क्रिया अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है। इसमें उत्तेजना का आभास-मात्र ही मिल पाता है। इसे ही संवेदना कहते हैं।

- दृष्टि संवेदना का ग्राहक-केन्द्र आँख है। आँखों में वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए अक्षि पटल होता है। प्रकाश, जो आँख के लिए उपयुक्त उत्तेजना है, आँख की पुतली से होते हुए अक्षि-पटल पर पड़ता है। अक्षि-पटल में पाये जाने वाले दण्ड (शलाकाएँ) और शंकु (सूचियां) ग्राहक कोश का कार्य करते हैं। ये दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिंबित प्रकाश की तरंगों को ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप, ग्राहक कोशों में स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है जो दृष्टि-स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क के पृष्ठ-खण्ड (ऑक्सीपिटल लोब) में जाता है और व्यक्ति को उस वस्तु की दृष्टि संवेदना होती है।

• श्रवण संवेदना का ग्राहक-केन्द्र कान है। इसे ध्वनि तरंगों से उत्तेजना प्राप्त होती है। जब किसी पदार्थ में कम्पन होता है तो उससे वायु में लहरें पैदा होती हैं जो वायु के साथ आगे की ओर बढ़ती हैं। इन्हें ही ध्वनि तरंग कहते हैं मानव कान इन्हीं ध्वनि तरंगों को ग्रहण करता है। मानव कान के तीन भाग है- बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण, एवं अन्तःकर्ण। सर्वप्रथम ध्वनि तरंगों को बाह्य कर्ण एकत्रित करता है तथा कर्ण-नली के रास्ते मध्य कर्ण में स्थित कर्ण-ढोल तक पहुँचा देता है। यहाँ से ध्वनि तरंगें अन्तः कर्ण के कॉक्लिया में पहुँचती हैं, फलतः वहाँ अवस्थित तरल पदार्थ में हलचल पैदा होती है। इस हलचल से केश-कोशिकाएँ उत्तेजित हो जाती है और वहाँ तंत्रिका-आवेग बनते हैं। ये तंत्रिका-आवेग श्रवण-स्नायु द्वारा कॉटैक्स के श्रवण खण्डों में जाते हैं और श्रवण संवेदना उत्पन्न होती है।

7.7 शब्दावली

• ज्ञानेन्द्रियां: मनुष्य के शरीर में पाये जाने वाले वैसे अंग जो वातावरण की उत्तेजनाओं को ग्रहण कर उनके बारे में सम्यक् ज्ञानदेने में सहायक होते हैं, ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा मानव शरीर की ज्ञानेन्द्रियां हैं।

• संवेदना: वह मानसिक क्रिया जो अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है तथा जिसके द्वारा व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं का तात्कालिक आभास-मात्र ज्ञान प्राप्त होता है, संवेदना कहलाती है।

7.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) वह मानसिक क्रिया जो अत्यन्त ही सरल एवं प्रारम्भिक स्वरूप की होती है तथा जिससे उद्दीपक का अभास मात्र ही मिल पाता है .....कहलाती है।

2) दृष्टि संवेदना का ग्रहक-केन्द्र ..... एवं श्रवण संवेदना का ग्राहक-केन्द्र..... है।

3) मनुष्य की आंख में पाये जाने वाले ग्राहक-कोश हैं ..... एवं .....।

4) प्रकाश तरंगों से ..... संवेदना एवं ध्वनि तरंगों से ..... संवेदना उत्पन्न होती है।

उत्तर: 1) संवेदना 2) आंख एवं कान 3) शलाकाएँ एवं सूचियां 4) दृष्टि एवं ध्वनि

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

• उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान-अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बनारसी दास

- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव - हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संवेदना से आप क्या समझते हैं? सांवेदिक प्रक्रियाओं का वर्णन करें।
2. मानव आँख की रचना और कार्यों का वर्णन करें।
3. दृष्टि संवेदना की प्रक्रिया समझाएँ।
4. मानव कान की रचना एवं कार्यों का वर्णन करें।
5. श्रवण संवेदना की प्रक्रिया समझायें।

इकाई 8 अभिप्रेरण का स्वरुप, प्रकार एवं अभिप्रेरण के सिद्धांत; मनोविश्लेषणात्मक, व्यवहारवादी, शारीरिक एवं आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धांत (Nature, Types of Motivation and Theories of Motivation: Psychoanalytic, Behaviouristic, Physiological and Need Hierarchy Theory)

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 अभिप्रेरणा या प्रेरणा का स्वरूप
8.4 आवश्यकता, प्रणोदन एवं प्रोत्साहन
8.5 प्रेरकों के प्रकार
8.5.1 जन्मजात प्रेरक
8.5.2 अर्जित प्रेरक या समाज जनित प्रेरक
8.5.2.1 सार्वजनीक अर्जित प्रेरक
8.5.2.2 वैयक्तिक मानवीय प्रेरक
8.6 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने अधिगम, चिन्तन, समस्या समाधान, स्मरण-विस्मरण आदि संप्रत्ययों का अध्ययन किया। आपने देखा कि सीखने की क्रिया हो या समस्या समाधान की प्रक्रिया, अभिप्रेरणा के बिना इनका सम्पन्न होना मुश्किल है। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने अभिप्रेरणा को एक अति महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है।

प्रस्तुत इकाई में आप अभिप्रेरणा का स्वरूप, उसकी विशेषताएँ, अभिप्रेरकों के प्रकार आदि का अध्ययन करेंगे तथा विभिन्न प्रकार के जैविक एवं अर्जित प्रेरकों के रू-ब-रू हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त प्रेरणा के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी आपका ज्ञानवर्धन हो सकेगा।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेगे कि आप-

- अभिप्रेरणा को परिभाषित कर सकें तथा इसके स्वरूप की व्याख्या कर सकें।
- आवश्यकता, प्रणोदन तथा प्रोत्साहन में अन्तर स्थापित कर सकें।
- जैविक एवं अर्जित प्रेरकों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कर सकें।
- वैयक्तिक मानवीय प्रेरकों का वर्णन कर सकें तथा
- अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकें।

8.3 प्रेरणा का स्वरूप

प्राणी किसी उत्तेजना के प्रति एक खास तरह की प्रतिक्रिया क्यों करता है उसका व्यवहार एक खास दिशा की ओर क्यों निर्देशित होता है तथा उसका व्यवहार निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद क्यों रुक जाता है, आदि प्रश्नों का उत्तर प्रेरणा के विश्लेषण से प्राप्त होता है। व्यक्ति भी अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही प्रतिक्रियाएँ करता है, यानी,व्यक्ति का व्यवहार भी प्रेरणात्मक स्वरूप का होता है।

प्रेरणा लैटिन के 'मोटिव शब्द से बना है जिसका अर्थ,''गतिशील होना'' होता है। इस अर्थ में प्रेरणा व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। प्रेरणा के इस शाब्दिक अर्थ से व्यक्ति की उस आंतरिक शक्ति या अग्रसारित करने वाली ऊर्जा का बोध होता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति किसी उत्तेजना के प्रति खास तरह की प्रतिक्रिया करने हेतु कार्यशील होता है।

'प्रेरणा' शब्द का उपयोग विभिन्न लोगों ने अलग-अलग अर्थों में किया है। कुछ लोग प्रेरणा का तात्पर्य प्राणी या व्यक्ति को क्रियाशील करने वाली शक्तिदायक विशेषता से लगाते हैं। उनके अनुसार, प्रेरणा एक शक्ति हैं, जो किसी क्रिया को उत्पन्न करती है। व्यक्ति यह शक्ति बाह्य और आंतरिक दोनों तरह से प्राप्त करता है। कुछ लोग प्रेरणा का अर्थ प्रणोदन से लगाते हैं । प्रणोदन व्यक्ति की उस खास अवस्था को कहते हैं, जो किसी क्रिया को करने हेतु उसे अग्रसर करती है। प्रेरणा का यह अर्थ संज्ञा के रूप में है। कुछ लोग प्रेरणा का एक तीसरा अर्थ क्रिया के रूप में भी लगाते हैं। इस अर्थ में किसी क्रिया को करने के लिए बल देने वाली चीज को प्रेरणा कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेरणा शब्द का उपयोग शक्ति, व्यक्ति की एक खास अवस्था जिसे प्रणोदन कहते है तथा बल, जो किसी क्रिया को अग्रसारित करती है- इन तीन अर्थों में किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य लोगों के बीच प्रेरणा के अनेक अर्थ है। किन्तु मनोविज्ञान में प्रेरणा का एक विशेष अर्थ लगाया जाता है। प्रेरणा का तात्पर्य व्यक्ति की एक

ऐसी अवस्था से है, जिस अवस्था के उत्पन्न होने पर वह बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए विशेष प्रकार की क्रिया करता है। व्यक्ति की यह अवस्था आंतरिक होती है क्योंकि इसकी उत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकारकी आवश्यकता या कमी या इच्छा से होती है। व्यक्ति जब किसी तरह की आवश्यकता या कमी का अनुभव करता है या किसी प्रकार की इच्छापूर्ति चाहता है तब यह एक खास ढंग का व्यवहार यानी प्रतिक्रिया करता है। उदाहरण के लिए, भूख की अवस्था को लें। व्यक्ति में इस अवस्था की उत्पत्ति आंतरिक अवस्था में परिवर्तन के कारण होती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है। इस बेचैनी को दूर करने के लिए, अर्थात् शारीरिक संतुलन स्थापित करने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य के व्यक्ति होटल में जाने की क्रिया करता है। व्यक्ति का यह व्यवहार खास ढंग का है, क्योंकि वह भूख लगने की अवस्था में कपड़े की दुकान, पुस्तक की दुकान या परचून की दुकान में जाने की क्रिया नहीं करता। वह केवल होटल में जाने की क्रिया करता है और वह भी ऐसे होटल में जो उसकी पंसद, इच्छा, आवश्यकता आदि के अनुकूल हो। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यवहार चयनात्मक, अर्थात् खास दिशा में निर्देशित होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि प्रेरणात्मक व्यवहार चयनात्मक और लक्ष्य- निर्देशित होता है।

प्रेरणात्मक व्यवहार के एक और विशेषता पाई जाती है। व्यक्ति जब किसी प्रकार की आवश्यकता से अग्रसर होकर किसी क्रिया को करता है, तब उसकी वह क्रिया आवश्यकता की पूर्ति होने अथवा उद्देश्य को प्राप्त करने की अवस्था तक चलती रहती है और आवश्यकता की पूर्ति होने पर वह क्रिया समाप्त हो जाती है तथा व्यक्ति की बेचैनी भी दूर हो जाती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरणा उस अवस्था को कहते हैं, जिस अवस्था के उत्पन्न होने पर बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए उसकी शक्ति वातावरण में उपस्थित अनेक चीजों में से किसी एक खास चीज का चयन करने की ओर व्यक्ति को अग्रसारित करती है। व्यक्ति का यह चयनात्मक व्यवहार तब तक चलता रहता है, जब तककि उसकी आवश्यकता या उद्देश्य पूरी नहीं हो जाती।

प्रेरणा की परिभाषाएँ-

प्रेरणा की परिभाषा विभिन्न लोगों ने अलग-अलग ढंग से दी है। यहाँ कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं -

शेरिफ, ग्लिमर एवं स्कोयन के अनुसार, ''प्रेरणा व्यक्ति के क्रिया करने की उस प्रवृत्ति को कहेंगे जो किसी प्रणोदन से आरंभ होती है तथा अभियोजन में समाप्त होती है''।गिलफोर्ड के अनुसार ''प्रेरणा

किसी खास आंतरिक कारक या अवस्था को कहते हैं जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करती है तथा उसे जारी रखती है''।

न्यूकॉम्ब की परिभाषा-''प्रेरणा प्राणी की वह अवस्था है जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति वातावरण में उपस्थित विभिन्न चीजों में से किसी विशेष चीज को प्राप्त करने की ओर चयनात्मक ढंग से अग्रसारित होती है''।

मार्गन एवं किंग के अनुसार, ''प्रेरणा एक सामान्य शब्द है। यह प्राणी की भीतरी अवस्था, व्यवहार एवं उस लक्ष्य की ओर इंगित करता है, जिस ओर उसका व्यवहार निर्देशित होता है।

केंडलर के अनुसार ''प्रेरणा का मनोविज्ञान कार्यशीलता उत्पन्न करने और व्यवहार को निर्देशित करने वाले परिवत्यों की विवेचना करता है''।

प्रेरणा की विशेषताएँ-

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में व्यक्ति के क्रियाशील होने की आंतरिक अवस्था को प्रेरणा कहा गया है, जिसमें निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती है-

1. प्रेरणा व्यक्ति की एक खास अवस्था होती है।
2. व्यक्ति की यह खास अवस्था आंतरिक होती है, जो किसी आवश्यकता, कमी या इच्छा से उत्पन्न होती है।
3. इस अवस्था के उत्पन्न होने पर व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए व्यक्ति क्रिया करने की ओर अग्रसरित होता है।
4. प्रेरणात्मक व्यवहार चयनात्मक स्वरूप का होता है तथा उसका व्यवहार किसी निर्धारित उद्देश्य या लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर निर्देशित होता है।
5. व्यक्ति में उत्पन्न प्रेरणात्मक व्यवहार उद्देश्य प्राप्ति तक जारी रहता है।
6. व्यक्ति अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की ओर ज्योंज्यों बढ़ता जाता है-, उसकी कार्यशीलता की तीव्रता और बेचैनी की अवस्था में कमी आती रहती है और उद्देश्य प्राप्त हो जाने पर कार्यशीलता तथा बेचैनी पूर्णतः समाप्त हो जाती है। इसे व्यवहार की पूर्णता की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रेरकों की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं विशेषताओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम इसकी परिभाषा इस प्रकार भी दे सकते है- प्रेरक प्राणी के व्यवहारों के उन पक्षों को कहते हैं जिनके फलस्वरूप वह कार्यशील होता है तथा उसके व्यवहार लक्ष्यप्राप्ति की दिशा में अग्रसारित होते हैं।

8.4 आवश्यकता, प्रणोदन एवं प्रोत्साहन

प्रेरणा के स्वरूप की चर्चा करते समय कुछ पदो, जैसे- आवश्यकता, प्रणोदन, प्रोत्साहन आदि का व्यवहार किया गया है। इनका व्यवहार कभी-कभी एक-दूसरे के बदले में भी किया जाता है तो कभी भिनन रूप में । अतः पदों का वास्तविक स्वरूप जानलेना आवश्यक है। यहाँ इनके अर्थ को संक्षेप में स्पष्ट किया जा रहा है।

आवश्यकता -आवश्यकता से तात्पर्य व्यक्ति में आंतरिक या बाह्य कारणों से उत्पन्न अवस्था से हे, जिसकी अनुभूति अभाव के रूप में होती है। इस अनुभव को प्राप्त करने के फलस्वरूप प्राणी में या तो तत्क्षण या कुछ विलम्ब से कुछ ऐसी क्रिया करने की इच्छा होती है जो उसकी कमी या अभाव को पूरा करने में समर्थ होती है। स्पष्ट है कि ऐसी क्रिया करने से कर्ता को आनंद या सुख का अनुभव होता है। जैसे- भोजन या पानी की आवश्यकता का अनुभव शरीर में भोजन या जल की कमी होने पर होता है। इसी प्रकार काम, निद्रा, किसी संकट से बचना, ज्ञानोपार्जन आदि की आवश्यकताएँ भी किसी प्रकार के अभाव की स्थिति के घोतक होते हैं।

1) **प्रणोदन** -प्रणोदन व्यक्ति में उत्पन्न होने वाली एक अवस्था है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति क्रियाशील होता है। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के लिए इस अवस्था की उत्पत्ति अनिवार्य है । यह अवस्था व्यक्ति में बल प्रदान करती है, जिसके फलस्वरूप वह कोई व्यवहार करने हेतु क्रियाशील होता है। इस अवस्था के उत्पन्न होने पर व्यक्ति बेचैन रहता है, जिसे दूर करने के लिए ही वह क्रियाशील होता है। लेकिन, प्राणी के सभी व्यवहारों में इस बेचैनी को दूर करने की क्षमता नहीं रहती। अतः वह ऐसी क्रिया करने को तत्पर होता है, जिससे उसकी बेचैनी दूर हो। इस प्रकार, व्यक्ति का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है और प्रणोदन की अवस्था में उद्देश्य प्राप्त करना व्यक्ति का मुख्य ध्येय होता है।

प्रणोदन वस्तुतः प्रेरणा का एक अंग है। प्रेरक में दो चीजों का समावेश रहता है- (क) बल या शक्ति या प्रणोदन तथा (ख) व्यवहार का लक्ष्य - प्राप्ति की ओर अग्रसारित होने की प्रवृत्ति । जब किसी प्रणोदन के फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होते हैं, तब ऐसे व्यवहार को ही प्रेरित व्यवहार की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, प्रेरित व्यवहार लक्ष्य की ओर अग्रसारित होता है।

प्रोत्साहन -प्रोत्साहन वैसी वस्तुओं अथवा लक्ष्य को कहते हैं जिसकी ओर व्यक्ति का प्रेरित व्यवहार निर्देशित रहता है। इस अर्थ में प्रोत्साहन का तात्पर्य प्राणी की क्रिया को आकर्षित करने वाली या उसे किसी कार्य का प्रलोभन देने वाली वस्तु से लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रोत्साहन एक ऐसी वस्तु या अवस्था है, जिससे कोई प्रणोदन समाप्त होता है। उदाहरण के लिए, भूखे व्यक्ति के लिए भोजन, प्यासे के लिए पानी, विद्यार्थी के लिए परीक्षा में ऊँचा स्थान पाना, बेरोजगारों के लिए नौकरी प्राप्त करना आदि सब प्रोत्साहन है।

प्रणोदन और प्रोत्साहन में अन्तर-

प्रणोदन एवं प्रोत्साहन में अन्तर है प्रणोदन से प्राणी की स्थाची शारीरिक अवस्था का बोध होता है, जबकि प्रोत्साहन उक्त शारीरिक अवस्था से उत्पन्न असंतुलन को दूर करने का साधन होता है। दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि कुछ प्रणोदन जन्मजात होते हैं और कुछ अर्जित, जैसे- सीखे हुए भय। परन्तु सभी प्रकार के प्रोत्साहन बाह्य वातावरण में रहते हैं तथा वे पूर्ण रूप से सीखे हुए होते हैं। इनमें एक और अन्तर यह है कि प्रणोदन अपने-आप में कोई उत्तेजना नहीं, बल्कि व्यक्ति की शारीरिक अवस्था होती है, जबकि प्रोत्साहन स्पष्टतः उत्तेजना के रूप में होते हैं।

प्रणोदन एवं प्रोत्साहन का प्रेरणात्मक व्यवहारों के साथ संबंध को बोलेस ने स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''प्रणोदन ठेलते हैं तथा प्रोत्साहन खींचते हैं और ये दिनों व्यवहार के प्रेरणात्मक व्याख्या देने में एक-दूसरे के पूरक का काम करते हैं''

8.5 प्रेरकों के प्रकार

व्यक्ति जो कुछ भी करता है, उसके पीछे किसी-न-किसी प्रकार की प्रेरणा अवश्य रहती है। अतः व्यक्ति जितने तरह का व्यवहार करता है, प्रेरणाओं के उतने ही प्रकार होंगे। इसलिए, प्रेरणाओं के प्रकारों की सूची बनाना कठिन है। इनमें कुछ प्रेरणाएँ जन्मजात होती है तो कुछ अर्जित। जन्मजात प्रेरणाओं में प्रजातीय समानता का गुण पाया जाता है तथा वे प्राकृतिक स्वरूप की होती है। अर्जित प्रेरणाओं को व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनुभव या अनुकरण द्वारा अर्जित करता है। ऐसी प्रेरणाएँ सामाजिक और वैयक्तिक दो तरह की होती है। सामाजिक प्रेरणाएँ सार्वजनीक होती है, अर्थात् ये प्रेरणाएँ प्रायः सभी लोगों में समान रूप से सामाजिक अनुभव के आधान पर अर्जित की जाती है। वैयक्तिक प्रेरणाएँ व्यक्ति की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से संबद्ध रहती है।

जन्मजात एवं अर्जित दोनो वर्गों के प्रेरकों के अन्तर्गत भी अनेक प्रेरक आते हैं। प्रेरणाओं के विभिन्न प्रकारों को अग्रलिखित प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है-

8.5.1 जन्मजात प्रेरक -

जन्मजात प्रेरकों का आधार शारीरिक अवस्थाओं में परिवर्तन है। इन्हें जैविक प्रेरक भी कहते हैं। चूँकि, ये प्रेरक सभी प्राणियों में पाए जाते हैं, इसलिए इन्हें सार्वजनीक प्रेरक भी कहते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर अथवा शारीरिक रसायन के तत्वों में कभी होने की स्थिति में व्यक्ति का शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है और वह बेचैनी का अनुभव करने लगता है। व्यक्ति शारीरिक संतुलन की स्थिति को बनाए रखने और बेचैनी की स्थिति को दूर करने हेतु कार्यशील होता है। व्यक्ति द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके शारीरिक संतुलन बनाए रखने हेतु कार्यशील होने की अवस्था को कैनन ने 'होमियोस्टैसिस' की संज्ञा दी है। होमियोस्टैसिस एक जैविक आवश्यकता है। अतः जन्मजात शारीरिक प्रेरकों को जैविक प्रेरकों के नाम से भी पुकारा जाता है। जैविक प्रेरणाएँ व्यक्ति में उन क्रियाओं को उत्पन्न करती है, जिनसे उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ संतुष्ट होती है, जो जीवन के लिए नितांत आवश्यक होती है।, जैसे- भूख, प्यास, काम, मलोत्सर्जन आदि शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी तृप्ति हेतु व्यक्ति भोजन करने, पानी पीने, यौन समागम, मल-मूत्र त्यागने की क्रियाएँ करता है। हालाँकि, ये प्रेरणाएँ शारीरिक है, तथापि इन प्रेरणाओं के फलस्वरूप व्यक्ति जिन व्यवहारों का प्रदर्शन करता है, उन पर समाज, परिवार और संस्कृति का भी प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्ति की जन्मजात शारीरिक प्रेणाओं का संबंध उसके सामाजिक स्तर, सामाजिक भूमिका आदि से भी हो जाता है। जन्मजात शारीरिक प्रेरकों में भूख, प्यास, काम, मातृत्व भाव, मलोत्सर्जन आदि प्रेरणाएँ आती है, जिनके बारे में अलग-अलग वर्णन नीचे किया जा रहा है-

भूख -भूख एक जन्मजात शारीरिक प्रेरक है। प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रेरणा जन्म के समय से विद्यमान रहती है। इस प्रेरक का संबंध व्यक्ति के शरीर-रसायन में परिवर्तन से है, जो शरीर के पोषक तत्वों में कमी का सूचक होता है। अतः शरीर-रसायन में परिवर्तन या शरीर के आवश्यक तत्वों में कमी की अवस्था भूख की प्रेरणा का प्रणोदन है, जो व्यक्ति को भोजन प्राप्त करने की दिशा में अग्रसारित करता है या उसे कार्यशील बनाता है और भोजन प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति की कार्यशीलता समाप्त हो जाती है।

भूख की अवस्था में व्यक्ति के शरीर की आंतरिक अवस्था खासकर आमाशय में कुछ परिवर्तन होते हैं, जिससे व्यक्ति कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार के लिए उत्प्रेरित होता है। इस प्रकार, व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य व्यवहारों में कुछ परिवर्तन होते हैं।

1) **प्यास** -जीवित रहने के लिए जल का भी उतना ही महत्व है जिनता भोजन का। बल्कि, यदि कहा जाए कि पानी जीवन सुरक्षा के लिए भोजन से भी अधिक आवश्यक है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भोजन के अभाव में हम कुछ सप्ताहों तक जीवित रह सकते हैं, किन्तु पानी के अभाव में कुछ दिनों तक भी जीवित रहना संभव नहीं होता। शायद इसलिए यह कहा गया है कि जल ही जीवन है।

पानी पीने की आवश्यकता के मूल में शरीर में जल का अभाव होना है। भोजन के पचने में शरीर का जल उपयोग में आता है। इसके अतिरिक्त फेफड़ो, त्वचा, वृक्क आदि अवयावों द्वारा भी शरीर का पानी लगातार निकलकर नष्ट होता रहता है। इससे शरीर में जल का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप हमें प्यास की अनुभूति होती है।

2) **काम या सेक्स** -यौनेच्छा सभी प्राणियों में मिलती है और इस इच्छा का प्रभाव उनके व्यवहारों पर पड़ता है। यह इच्छा मनुष्यों के हर आयु स्तर में विद्यमान रहती है। लेकिन, इस इच्छा की अभिव्यक्ति समाज द्वारा संचालित और नियंत्रित होती है। अतः काम-प्रेरणा को जैवाधारित सामाजिक प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है।

3) काम या यौन प्रणादेन को जैवाधारित मानने के तीन प्रधान कारण हैं -1. यह सभी प्राणियों में पाया जाता है। 2. इस इच्छा की पूर्ति शारीरिक क्रियाओं द्वारा होती है तथा 3. इस इच्छा की संतुष्टि रसस्राव के रूप में होता है। मुनष्यों में यौनक्रिया सामाजिक आदर्शों द्वारा निर्धारित तो होती है, साथ ही साथ इसका स्वरूप स्राविक भी होता हे। सामाजिक जीवन के दृष्टिकोण से भूख के बाद यौनभाव का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है। पशुओं पर प्रयोग करने देखा गया है कि स्वभावतः मादा नर से ज्यादा क्रियाशील होती है। जीवन के कुछ क्षणों में मादा अधिक कार्यशील रहती है, लेकिन बाद में नरों की अपेक्षा शिथिला हो जाती है। मादा पशुओं में कुछ समय तक अत्यधिक कार्यशील रहने के बाद नरों की तुलना में अत्यधिक शिथिल हो जाना संभवतः यौनभाव में कमी होने पर निर्भर करता है। साधारण लोगों के अनुसार इस तरह का परिवर्तन उनके ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) में परिवर्तन होने के कारण होता है।

4) **मातृत्व भाव** -मातृत्व भाव भी एक महत्वपूर्ण शारीरिक प्रेरक है। इसका सम्बन्ध माँ की दैहिक अवस्था से है। गर्भधारण के समय से ही माँ की अन्तः स्रावी ग्रंथियों में परिवर्तन होने लगते हैं। पीयूष ग्रंथि से प्रोलैक्टिन हार्मोन का स्राव होने लगता हे। माँ की दैहिक अवस्था में होने वाले इस जैविक परिवर्तनों के फलस्वरूप मातृत्व भाव के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं जिससे शिशुओं की देखभाल करने, उनकी सेवा सुश्रुषा करने, स्वयं कष्ट झेलकर शिशु को कष्ट से बचाने का प्रयास करना आदि स्वाभाविक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, मात्त्व-प्रेरणा प्राणी को शिशु की आवश्यकता की पूर्ति करने तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान करने को प्रेरित करती है।

5) मातृत्व भाव की प्रेरणा का आधार सिर्फ हॉर्मोन का स्राव ही नहीं है, बल्कि यह प्रेरणा मनोवैज्ञानिक कारकों द्वारा परिमार्जित भी होती है। कैम्पबेल एवं मिसेनिन (1969) ने इस प्रेरणा के विकास में सामाजिक शिक्षण अनुभव एवं सामाजिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान बताया है। मनोवैज्ञानिको ने अनेक अध्ययनों में यह भी दखा है कि मातृत्व भाव की संतुष्टि नहीं होने पर ऐसी माताएँ असामान्यता से ग्रस्त रहने लगती हैं।

अतः स्पष्ट है कि मातृत्व भाव की प्रेरणा का संबंध केवल दैहिक अवस्थाओं में होने वाले जैविक रासायनिक परिवर्ततनों से ही नहीं, अपितु सामाजिक जीवन एवं अनुभव के साथ भी है।

6) **मलोत्सर्जन** -मल-मूत्र का परित्याग करना भी एक जन्मजात शारीरिक क्रिया है- जिसकी उत्तेजना उत्सर्जी पदार्थों से मुक्ति पाने की शारिरिक आवश्यकता है। जब मूत्राशय या मलाशय में उत्सर्जी पदार्थ एकत्र होते है, तब प्राणी तनाव एवं दबाव का अनुभव करता है। इस तनाव या दबाव से मुक्ति पाने की इच्छा से व्यक्ति शरीर में एकत्र उत्सर्जी पदार्थों का परित्याग करने हेतु प्रेरित होता है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप मलोत्सर्जन की क्रियाएँ होती हैं।

7) मलोत्सर्जन की प्रेरणा का शारीरिक आधार मूत्रथैली एवं बड़ी आँत का फैलना है। एसी स्थिति में इन अवयवों की दीवारों में स्थित ग्राहक कोश उत्तेजित हो जाते हैं जिससे इन अवयवों में एकत्र बेकार के पदार्थों के परित्याग की प्रेरणा उत्पन्न होती है, तथा इस प्रेरणा की संतुष्टि मूत्र परित्याग एवं मल परित्याग की प्रक्रियाओं द्वारा होती है। हालाँकि, वयस्क व्यक्तियों में इस प्रेरणा का कोई खास महत्व नहीं दिखता, क्योंकि उनमें इससे उत्पन्न तनाव से राहत पाने में कोई खास दिक्कत या कठिनाई नहीं होती। लेकिन, बाल्यावस्था में यह प्रणोदन विशेष महत्व रखता है। बाल्यावस्था में बच्चों को मल-मूत्र का परित्याग करने-संबंधी प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे उनमें नियत स्थान, समय और नियमित ढंग से उत्सर्जी पदार्थों के परित्याग की आदत का निर्माण हो सके। यह भी देखा गया है कि बच्चों को आदतों के निर्माण का प्रशिक्षण यदि उचित समय पर नहीं दिया जाए तो वे असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहने लगते हैं तथा उनमें गंन्दी आदतों का निर्माण होता है।

8) **अन्य शारीरिक प्रेरक** -उपर्युक्त शारीरिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त हवा, पीड़ा, ताप, निद्रा आदि भी समस्थिति प्रणोदनों की श्रेणी में आते हैं। हर जगह प्रत्येक मनुष्य मौसम की गर्मी, ठंढी, स्वच्ट हवा, शारीरिक पीड़ा आदि से प्रभावित होते हैं। ऑक्सीजन शारीरिक संतुलन को बनाए रखने तथा जीवित रहने के लिए नितांत आवश्यक है। सामान्य अवस्था में इसकी कमी का अनुभव प्रायः नहीं होता। किन्तु जब व्यक्ति ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते हैं अथावा ऐसी जगहों पर होते हैं, जहाँ ऑक्सीजन की कमी होती है तब उन्हें बेचैनी का अनुभव होता है तथा प्रायः वे अचेत होकर गिर जाते हैं। कुछ खास परिरिस्थतियों में फेफड़ो में कार्बन डाइऑक्साइड के अधिक मात्रा में एकत्र हो जाने पर व्यक्ति अशांत अनुभव करता है तथा उसे पीड़ा या क्लेश होता है। इस अवस्था में उसे तब तक आराम नहीं मिलता, जब तक कि फेफड़ो को ऑक्सीजन की आपूर्ति नहीं होती।

इसी तरह, पीड़ा की उत्पत्ति टिसूज की क्षति होने तथा अवयवों की कार्यप्रणाली में दोष आ जाने के कारण होती है। ऐसी अवस्थाओं में शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है, जिसे पुनः संतुलित करने के उद्देश्य से प्राणी कुछ विशेष प्रकार की क्रियाएँ करता है। साथ-ही प्राणी अपने को पीड़ादायक

उत्तेजनाओं से बचाये रखने की कोशिश भी करता है। इस अर्थ से पीड़ा कष्टप्रद उत्तेजनाअें से दूर रहने का प्रणोदन है।

समस्थिति प्रणोदनों में शरीर के ताप को उपयुक्त स्तर पर बनाए रखना भी एक महत्वपूर्ण प्रणोदन है। दैनिक जीवन के अनुभवों तथा इस संबंध में किए गए प्रयोगों से यह अच्छी तरह पता चलता है कि निम्न श्रेणी के पशु एवं मानव, सभी कुछ ऐसी क्रियाएँ करना सीखते हैं, जिनसे आवश्यकतानुसार शारीरिक तापमान को घटाया या बढाया जा सकता है। जैसे- गर्मी के दिनों में कृत्रिम व्यवस्था द्वारा वातावरण की गर्मी से बचने की क्रियाएँ करना अथवा जाड़े के मौसम में गर्म कपड़े पहनकर शरीर ताप को कायम रखना हमारे दैनिक जीवन के उदाहरण है।

निद्रा भी एक महत्वूपर्ण शारीरिक समस्थिति प्रणोदन है। यह एक जैविक प्रणोदन है, क्योंकि नींद की कमी होने से व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से अवस्वथ रहने लगता है। नींद का संबंध शरीर की रासायनिक अवस्था से स्थापित किया गया है। इ0इ0जी0 द्वारा प्राप्त परिणाम भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि सुप्तावस्था में मस्तिष्क की क्रियाएँ जागृत अवस्था से भिन्न स्वरूप की होती है।

सोने की इच्छा प्रायः सभी मनुष्यों एवं पशुओं में पाई जाती है। यह इच्छा निश्चित अवधि के अन्तराल पर उत्पन्न होती है तथा एक निश्चित अवधि तक व्यक्ति सुप्तावस्था में रहता है। नींद की अवस्था में व्यक्ति के शरीर का तापक्रम और विभिन्न ग्रन्थियों की क्रियाएँ न्यूनतम स्तर पर रहती है तथा जागृत अवस्था में उच्चतम स्तर पर। यदि किसी के सोने का समय अचानक बदल दिया जाए तो उसके व्यवहार में भी स्पष्ट परिवर्तन के लक्षण देखे जा सकेते हैं।

8.5.2 अर्जित प्रेरक या समाजजनित प्रेरक -

अर्जित प्रेरकों की उत्पत्ति व्यक्ति के जीवन काल में होती है। व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करता है, जिन्हें वह अपने स्नायुमंडल में संचित करता है और इन संचित अनुभवों द्वारा व्यक्ति में अनेक प्रकार के प्रेरकों का विकास होता है।

व्यक्ति द्वारा अर्जित अनुभवों में कुछ अनुभव सभी व्यक्तियों में समान तरह के होते हैं तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में विशिष्ट प्रकार के। समान स्वरूप के अनुभवों से सभी मनुष्यों में समान अर्जित प्रेरकों का विकास होता है, जिन्हें सार्वजनिक अर्जित प्रेरक कहते हैं। विशिष्ट अनुभव विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होत हैं। वैयक्तिक रूप का होने के कारण ही ऐसे प्रेरकों को वैयक्तिक प्रेरक की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, अर्जित प्रेरक दो प्रकार के होते हैं- वैयक्तिक एवं सार्वजनिक|

8.5.2.1 सार्वजनिक अर्जित प्रेरक -

सार्वजनिक अर्जित प्रेरकों को सामाजिक प्रेरक भी कहते हैं, क्योंकि इन प्रेरकों का संबंध व्यक्ति के सामाजिक जीवन से रहता है। इन्हें सार्वजनिक इसलिए कहते हैं, क्योंकि ऐसे प्रेरक समाज विशेष के प्रायः सभी व्यक्तियों के समान रूप से पाए जाते हैं। ऐसे प्रेरकों में सामुदायिकता, अर्जनात्मकता, आत्मस्थापन, कलह आदि प्रमुख है, जिनके बारे में संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है-

सामुदायिकता- समुदाय में सामूहिक रूप से रहने की प्रवृत्ति प्रायः सभी प्राणियों में मिलती है। कुछ लोगों के अनुसार प्राणी में सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। कोई भी प्राणी अपनी जन्मजात प्रवृत्ति के कारण ही सामुदायिक बन पाता है। अतः इस प्रवृत्ति के अभाव में वह कभी भी सामुदायिक नहीं बन सकता। उदाहरण के लिए, बिल्ली जन्म के समय सामुदायिक रहती है। एक बिल्ली एक साथ-तीन-चार बच्चे देती है। इस प्रकार, बचपन में बिल्लियों को सदा एक साथ रहने का अवसर मिलता है। फिर भी, उनमें सामुदायिकता की भावना का विकास नहीं हो पाता। इसीलिए, कुछ बड़े होने पर बिल्लियाँ अलग-अलग रहने लगती है। अतः यहाँ एक प्रश्न उठता है कि बिल्लियाँ एक साथ जन्म लेती है तथा सदा एक साथ रहने का उन्हें अवसर भी मिलता है, फिर भी बड़ी होने पर उनमें सामुदायिकता भी भावना का अभाव क्यों रहता है। दरअसल, बिल्लियों में सामुदायिकता की जन्मजात प्रवृत्ति का अभाव रहता है, इसीलिए वे सामुदायिक नहीं हो पाती जबकि गया के बछड़े अकेले जन्म लेते हैं, लेकिन अकेले जन्म लेने के उपरान्त भी उनमें सामुदायिकता की भावना पाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्म जाता होती है।

परन्तु, यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि सामुदायिकता की भावना प्रायः सभी प्राणियों में जन्मजात तो होती है किन्तु इसका विकास उपर्यक्त वातावरण में ही होता है। इसीलिए, इसे अर्जित प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है। उपर्युक्त वातावरण के अभाव में सामुदायिकता की जन्मजात प्रवृत्ति का विकास संभव नहीं है।

मनुष्यों में इस भावना के विकास का कारण दूसरों पर आश्रित रहना भी माना जाता है। जन्म के समय बच्चे असहाय और आश्रित रहते हैं। शैशवावस्था में बच्चे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माँ पर निर्भर करते हैं। फलतः प्रारम्भ में तो वे अवनी माँ को ही सभी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति का साधन मानते हैं, परन्तु बाद में चलकर संबंध-प्रत्यावर्तन द्वारा मात्र माँ की उपस्थिति बच्चों को संतोष प्रदान करने लगती है। फिर, जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होने लगता है, उसका संपर्क परिवार एवं पड़ोस के दूसरे लोगों से भी बढने लगता है। इस प्रकार, बच्चों का दूसरे के संपर्क में रहना सामूहिक जीवन के विकास मे सहायक होता है। अर्थात् 'सामाजिक संपर्क' के माध्यम से उनमें सामूहिक जीवन की आदत-सी पड़ जाती है जिससे सामुदायिकता की प्रवृत्ति का विकास होता है। अतः स्पष्ट है कि सामुदायिकता

का विकास परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जिसके मूल में बाल्यावस्था की आश्रितता रहती है तथा सामाजिक संपर्क के फलस्वरूप यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे प्रबल होती है। इस दृष्टिकोण से सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्मजात नहीं, बल्कि एक अर्जित प्रेरक है जो परिस्थिति पर निर्भर करती है।

अर्जनात्मकता- प्रायः, प्रत्येक व्यक्ति में अच्छी, लाभदायक एवं उपयोगी वस्तुओं को अपने पास रखने की प्रवृत्ति देखी जाती है। मैकडूगल ने व्यक्ति की इस प्रवृत्ति को अर्जनाम्कता की प्रवृत्ति की संज्ञा दी है। जानवरों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम देखी जाती है परन्तु मनुष्यों में इस तरह की प्रवृत्ति अत्यधिक सबल रूप से देखी जाती है। सामुदायिकता की ही तरह यह भी एक सार्वजनिक प्रवृत्ति है, जिसकी उत्पत्ति की कमी पायी जाती है, क्योंकि उनके समाज में आवश्यकता से ज्यादा सभी चीजें दूसरे लोगों में, जिनको इनकी जरूरत है, वितरित कर दी जाती है। लेकिन, अन्य राष्ट्रों में आवश्यकता एवं उपयोग की विभिन्न वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में होना प्रतिष्ठा का विषय होता है। अतः समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से सभी लोग अधिक से अधिक वस्तुओं से अपने को संपन्न बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रखते हैं।

जिज्ञासा या उत्सुकता- अर्जनात्मकता की प्रवृत्ति की तरह प्रायः सभी मनुष्यों में जिज्ञासा की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति मिलती है। प्रत्येक प्राणी अपने आस-पास उपस्थित होने वाली नई परिस्थितियों , वस्तुओं के बारे में जानने की जिज्ञासा रखता है। इस तथ्य को जानवरों पर किए गए प्रयोगों एवं मानव व्यक्ति तथा बच्चों के व्यवहारों का निरीक्षण करके प्रदर्शित किया गया है। भूलभुलैया जैसी नवीन परिस्थितियों में चूहे के व्यवहारों का प्रयोगात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध किया जा चुका है कि चूहे भूलभुलैया की समस्या का समाधान सीखते समय अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह के अनेक प्रयोग बंदरो, वनमानुषों, छोटे बालकों आदि पर भी किए गए है।, जिनके आधार पर जिज्ञासा की प्रवृत्ति को एक महत्वूपर्ण सार्वजनिक प्रेरक के रूप में सिद्ध किया जा सका है। साथ ही, यह भी प्रमाणित किया जा सका है कि इस प्रवृत्ति के विकास में सामाजिक संपर्क, अनुकरण एवं साधन की उपलब्धता आदि का महत्पूर्ण योगदान है। इसलिए, इसे अर्जित प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है।

आत्मस्थापन -आत्मस्थापन भी एक महत्वपूर्ण मानव प्रेरक है। इसकी अभिव्यक्ति नेता बनने, दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने, आत्म प्रदर्शन करने आदि इच्छाओं में होती है। इस संबंध में-एडलर का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति की इच्छा रहती है, जो यौनप्रेरणा से भी अधिक बलवान होती है। - व्यक्ति जब अपनी शक्ति की इच्छा को संतुष्ट करने में सफल होता है, तब उसमें श्रेष्ठता की भावना या ग्रंथि आत्मस्थापन के भाव जन्मजात होते हैं।

आत्मस्थापन की प्रेरणा प्रायः सभी में पाई जाती है। इसीलिए, कुछ लोग इसे जन्मजात और सार्वजनिक भी मानते हैं। लेकिन, मीड एवं बेनेडिक्ट ने कुछ प्रजातियों में इस प्रेरणा का अभाव पाया है।

उदाहरणार्थ, न्यूनानी के एरापेश जाति का कोई भी व्यक्ति नेता बनना नहीं चाहता। इसका कारण यह है कि उनके समाज में इस प्रकार के व्यवहार को करना बचपन से ही रोका जाता है। इसी तरह जूनी बच्चे दूसरों पर अपना प्रभाव जमाना नहीं चाहते। उनमें स्पर्धा या प्रतियोगीता की भावना का भी अभाव होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आत्मस्थान की प्रेरणा की व्यक्ति अपने जीवन काल में अर्जित करता है। इस प्रेरणा के विकास में बाल्यकाल का अनुभव विशेष महत्व रखता है। बाल्यावस्था में बच्चों को अपनी स्वतंत्र प्रवृत्तियों के प्रकाशन में अनेक प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। बच्चे इन अवरोधों को दूर करने की भरपूर चेष्टा करते हैं और इसी क्रम में वे धीरे-धीरे अपने से अधिक शक्तिशाली लोगों के समक्ष समर्पण करने और कम शक्तिशाली लोगों पर अपना आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति को विकसित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मकथापन की प्रेरणा सामाजिक वातावरण में शिक्षण एवं अनुभव द्वारा अर्जित की जाती है तथा यह प्रेरणा प्रायः सभी लोगों में सामान्य रूप से पाई जाती है।

5) कलह- साधारणतः सभी प्राणियों में कलह की प्रवृत्ति पाई जाती है। कुछ लोग इसे जन्मजात प्रेरक मानते हैं। लकिन, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पाएँगे कि इस प्रेरणा के विकास के दो प्रधान कारण हैं-

1.शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होना, और
2.शिक्षा का प्रभाव एवं अनुकरण की प्रवृत्ति। जब व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है, तब वह बाधा उपस्थित करने वाले व्यक्ति या परिस्थिति पर क्रुद्ध होता है। उसका क्रोध बाधा के कारणों से लड़ने के लिए उसे प्रेरित करता है। लड़ने की यही प्रवृत्ति व्यक्ति के भावी जीवन में कलह का संवेग उत्पन्न करता है।

इसी तरह, शिक्षण और अनुकरण की प्रवृत्ति भी कलह की प्रेरणा को उत्पन्न करता है। किसी खास परिस्थिति में हम जब अपने परिवार या पड़ोस के किसी व्यक्ति को झगड़ा करते हुए देखते हैं, तब समान तरह की परिस्थिति उत्पन्न होने पर हम स्वयं भी वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं। कलह की प्रवृत्ति में जाने या अनजाने ढंग से प्राप्त प्रबलन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि कलह की प्रेरणा जीवन काल में व्यक्ति अर्जित करता है। यह एक सार्वजनीक प्रेरक भी है, क्योंकि कम या अधिक, प्रायः सभी प्राणियों में इस तरह की प्रेरणा व्याप्त रहती है।

8.5.2.- वैयक्तिक मानवीय प्रेरक

हमारे व्यवहार और क्रियाओं को संचालित करने वाले कुछ ऐसे भी प्रेरक हैं, जो वैयक्तिक स्वरूप के होते हैं। अर्थात् ऐसी प्रेरणाएँ व्यक्ति विशेष में ही मिलती है और वे उनके व्यक्तित्व का विशिष्ट गुण हो जाते हैं। वे सार्वजनिक नहीं होते। इस प्रकार के प्रेरकों को व्यक्ति अपने जीवन काल में सीखता है जिसमें उसकी सफलता, विफलता, परिस्थिति आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। ऐसे प्रेरकों में

उपलब्धि की प्रेरणा, आकांक्षा या आदत की विवशता, अभिरूचियाँ, मनोवृत्ति, अचेतन प्रेरक इत्यादि महत्वपूर्ण है।

1) **उपलब्धि की प्रेरणा-** इस प्रेरणा उत्पत्ति आधार व्यक्ति के अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करने तथा औरों से श्रेष्ठ बनने की इच्छा से होती है। इस प्रेरणा पर मैकक्लीलैंड (1953) ने गहन रूप से मौलिक अध्ययन किया है। मैकक्लीलैंड, एटकिन्स, विण्टर बॉटम क्लार्क आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रेरणा के विभिन्न लक्षणों, अभिव्यक्ति के रूप, विकास आदि पहलुओं पर अग्रगामी अध्ययन किया है। इन्होंने अपने अध्ययनों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि इस प्रेरणा का विकास व्यक्ति के जीवन काल में लालन-पालन की प्रणाली, सामाजिक-आर्थिक स्तर, पारिवारिक परिवेश, सफलता एवं विफलता आदि द्वारा होता है। इससे स्पष्ट है कि उपलब्धि की प्रेरणा अर्जित होती है तथा इस प्रेरणा का महत्वपूर्ण प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है।

उपलिब्ध की प्रेरणा की जाँच के लिए मर्रे द्वारा थिमेंटिक एपरसेप्सन टेस्ट विधि पर आधारति प्रक्षेपण प्रविधि का उपयोग किया जाता है। इस जाँच में प्रयोज्यों को कुछ अपरिचित चित्र दिखाए जाते हैं, जिनमें व्यक्ति को विभिन्न तरह की परिस्थितियों में कार्यरत स्थिति में प्रदर्शित किया जाता है। प्रयोज्यों को उन चित्रों के संबंध में कहानी लिखने को कहा जाता है, जिसके विश्लेषण से उनकी उपलब्धि-संबंधी प्रेरणा का पता चलता है। प्रयोज्यों की कहानी में मुकाबला, जोखिम, जीत-हार, संघर्ष, धैर्य आदि तत्वों के आने से उपलब्धि की प्रेरणा का परिचय मिलता है। उपलब्धि की प्रेरणा की जाँच के लिए आजकल अनेक प्रामाणि प्रश्नावलियाँ, वाक्य-पूर्ति जाँच का भी उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा हैं।

इस प्रेरणा से संबद्ध अध्ययनों से पता चला है कि विभिन्न व्यक्तियों में यह प्रेरणा अलग-अलग मात्राओं में पाई जाती है अर्थात् सभी व्यक्तियों में उपलब्धि की प्रेरणा समान स्तर की नहीं होती । इस प्रेरणा के स्तर में वैयक्तिक विभिन्नता मिलती है। इन अध्ययनों से यह भी सिद्ध किया जा सका है कि जिन लोगों में यह रणा ऊँचे स्तर का होता है, वे विभिन्न परिस्थितियों के ऊँचे लक्ष्य रखते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उपलब्धि प्रेरणा के विकास में जन्मक्रम, लिंगभेद, परिवार में लड़के और लडकियों की संख्या, वितरण प्रतिरूप आदि का स्थान महत्वपूर्ण है। सैम्पसन और हैनकॉक (1967) के अनुसार, पहले बच्चे में बाद में जन्मे बच्चों की तुलना में उपलब्धि प्रेरणा का स्तर अधिक ऊँचा होता है। इसका कारण परिवार में विभिन्न जन्मक्रम वाले बच्चों का लालन-पालन भिन्न-भिन्न तरीके से होना है। बड़े बच्चे प्रायः माता पिता का पहले स्नेह पाते हैं तथा बड़ा होने के नाते उनमें अपने छोटे भाई-बहनों पर स्वामित्व या अधिकार जमाने की भावना प्रबल होती है। उनकी यही भावना ऊँचे ओहदे पर, ऊँची सफलता प्राप्त करने आदि अभिलषाओं के परिणत होकर प्रकट होती है। बी.के. मिश्र

(1974) ने भी एक अध्ययन में पाया कि भरतीय समाज में लड़के और लड़कियों के प्रति माता-पिता के दृष्टि कोण में अन्तर होने के कारण उनमें उपलब्धि प्रेरणा के स्तर में भिन्नता मिलती है। किन्तु, यहाँ भी सांस्कृतिक विभिन्नता पाई गई है। इसका कारण यह है कि विभिन्न संस्कृतियों में लड़के और लड़कियों के प्रति माता-पिता की मनोवृत्ति एवं आदर्श में भिन्नता होती है, जिसके अनुरूप ही उनका पालन-पोषण, शिक्षा एवं विकास होता है।

स्पष्ट है कि उपलब्धि प्रेरणा में वैयक्तिक एवं सामाजिक विभिन्नता पाई जाती है।

2) आकांक्षा-स्तर - आकांक्षा-स्तर भी एक वैयक्तिक प्रेरक है । किी लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा को 'आकांक्षा कहते हैं। व्यक्ति द्वारा किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा एक प्रेरणात्म पहलू है, क्योंकि व्यक्ति की यह इच्छा उसके व्यवहार को निर्देशित करती है और व्यक्ति लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु अग्रसर एवं प्रयत्नशील होता है।

2) सभी व्यक्ति सभी प्रकार के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते । व्यक्तियों की क्षमता या योग्यता में भेद होता है। इसी विभिन्नता के कारण लक्ष प्राप्ति का स्तर व्यक्ति द्वारा निर्धारित लक्ष्य से कम या अधिक हो सकता है। आकांक्षा-स्तर और उपलब्धि - स्तर में भिन्नता का एक और महत्वपूर्ण कारण विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति में कठिनाइयों की मात्रा या स्तर में विभिन्नता भी है। व्यक्ति की सफलता या विफलता से भी आकांक्षा-स्तर घटना या बढता है।

3) आकांक्षा- स्तर अर्थ में एक आश्रित परिवर्त्य (Dependent Variableहै, जो व्यक्ति की सफलता-असफलता के अनुभव, बारंबारता, योग्यता, कार्य की जटिलता आदि स्वतंत्र परिवर्त्यों पर निर्भर है। इसका संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उपलब्धि-प्रेरणा के साथ भी रहता है। इसकी जाँच से स्वस्थ एवं अस्वस्थ व्यक्तित्व की पहचान भी की जा सकती है।

4) आदत की विवशता -किसी प्रकार की आदत भी प्रेरेक शक्ति का कार्य करती है। उदाहरण के लिए, मादक द्रव्यों के सेवन अथवा शराब पीने की आदत को लें। इन नशीले पदार्थों या शराब का लगातार सेवन करते रहने के फलस्वरूप व्यक्ति में इनकी आदत पड़ जाती है और वह विवश हो जाता है। आदत की विवशता के कारण व्यक्ति इनके बिना चैन से नहीं रह पाता। इन पदार्थों के अभाव में वह व्यग्र और बेचैन रहता है, अतः अपनी बेचैनी को दूर करने के उद्देश्य से वह इन पदार्थों को प्राप्त करने हेतु प्रेरित होता है और जब ये पदार्थ उसे प्राप्त हो जाते हैं, तब उसकी बेचैनी भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, आदत की विवशता भी प्रेरक शक्ति के रूप में काम आती है।

इसी तरह की बात व्यवहार की आदत के साथ भी है। व्यक्ति का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वह कुछ खास प्रकार के व्यवहार को करने का आदी हो जाता है जो कालक्रम में आदत का रूप धारण कर लेता है,। फलतः उसकी वह आदत प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करने लगती है।

उदाहरण के लिए, मान लें किसी व्यक्ति को रात्रि भोजन के समय कभी उसे अखबार न मिले तो वह बेचैन हो जाता है, उकसी नींद गयाब हो जाती है और वह तब तक अखबार ढूँढता रहता है, जब तक कि अखबार उसे मिल नहीं जाता । अतः, स्पष्ट है कि व्यक्ति की व्यक्तिगत आदतें भी वैयक्तिक प्रेरणा के रूप में कार्य करती है।

5) **अभिरूचियाँ** -व्यक्ति के व्यवहार को उसकी अभिरूचियाँ भी निर्देशित करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अभिरूचियाँ अलगअलग होती है-, लेकिन अभिरूचियों का विकास व्यक्ति के जीवनकाल में उसके वैयक्तिक अनुभव और परिस्थितियों द्वारा होता है। जिन वस्तुओं में व्यक्ति की अभिरूचि होती है, उन्हें वह बहुत अधिक पसंद करता है तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु कार्यशील होता है। इस प्रकार व्यक्ति की अभिरूचियाँ उसे अनुकूल वस्तु को प्राप्त करने हेतु प्रेरित करती है और जब वह उन्हें प्राप्त कर लेता है तब उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है।

6) **मनोवृत्तियाँ-** किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्ति अलग- अलग होती है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप ही उनके प्रति विशेष ढंग से सोचता है। उनका मूल्याकन करता है तथा खास ढंग की प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। अनुकूल मनोवृत्ति रहने पर उसका व्यवहार भी अनुकूल होता है ताकि प्रतिकूल मनोवृत्ति रहने पर उसका व्यवहार भी प्रतिकूल स्वरूप का होता है। इस प्रकार, मनोवृत्तियाँ प्रेरक शक्ति के रूप में व्यक्ति के व्यवहार को एक खास ढंग से निर्देशित करती हैं । अतः मनोवृत्ति एक मानवीय प्रेरक है जिसका विकास जीवन काल में अनुभव, शिक्षण एवं सामाजिक परिस्थिति द्वारा होता है।

7) **अचेतन प्रेरक** -फ्रायड ने मानवीय प्रेरकों में अचेतन प्रेरणाओं के महत्व पर विशेष बल दिया है। इनके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार उसकी इच्छाओं से निर्देशित होते हैं जिनकी पूर्ति हेतु वह क्रियाशील होता है। लेकिन, व्यक्ति की सभी इच्छाएँ प्रत्यक्ष रूप से पूरी नहीं हो पाती, क्योंकि व्यक्ति की सभी इच्छाएँ समाज के प्रचलित नियामों, आदर्शों एवं परंपराओं के अनुरूप नहीं होती। अतः व्यक्ति की जो इच्छाएँ सामाजिक प्रतिबंधों के कारण तृप्त नहीं हो पाती, वे उसके मन के अचेतन भाग में दमित हो जाती हैं । परन्तु व्यक्ति अपनी इन इच्छाओं को अतृप्त नहीं रहने देना चाहता। साथ ही, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबंधों के कारण वह इन इच्छाओं को चेतन स्तर पर भी अधिक समय तक नहीं रख सकता।अतः से इच्छाएँ अचेतन भाग में चली जाती हैं। अचेतन में दमित ये इच्छाएँ निष्क्रिय नहीं रहती, बल्कि अपनी पूर्ति हेतु अचेतन रूप से ही व्यक्ति को कार्यशील बनाती है। व्यक्ति अचेतन मन द्वारा प्रेरित व्यवहारों के कारण को नहीं जानता। उसे व्यवहार-विशेष के कारण को समझने में कठिनाई होती है, क्योंकि उसके व्यवहार विशेष का संचालन अचेतन मन द्वार होता है। अचेतन प्रेरकों द्वारा संचालित व्यवहारों में बोलते समय अनजाने होने वाली गलतियाँ, किसी परिचित व्यक्ति या मित्र को पहचानने में भूलें करना, लिखने की भूलें

करना आदि दैनिक जीवन की सामान्य भूलों का उल्लेख किया जा सकता है। स्वप्न भी इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

8) अचेतन प्रेरकों का व्यक्ति के व्यवहारों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। व्यक्तित्व-संबंधी त्रुटियों, मानसिक बीमारियों आदि के विकास में अचेतन प्रेरकों का महत्व अनेक अध्ययनों में स्पष्ट किया जा चुका है। अचेतन प्रेरकों का विश्लेषण करके व्यक्ति के रहस्यात्मक व्यवहारों एवं उनकी गुत्थियों को भी समझा जा सकता है। अचेतन मन के विश्लेषण हेतु फ्रायड ने मनोविश्लेषण विधि का उपयोग किया। इस विधि का उपयोग कर ऐसे अनेक अध्ययन किए गए हैं, जिनसे यह स्पष्ट पता चला है कि मनुष्य ऐसे अनेक कार्यों को करता है जिनका संचालन अचेतन प्रेरकों द्वारा होता है।

8.6 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त

अभी तक आपने अभिप्रेरणा को परिभाषित करना, आवश्यकता, अन्तर्नोद एवं प्रोत्साहन के बीच सम्बन्ध तथा जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के स्वरूप की जानकारी प्राप्त की । अब हम लोग उन सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे जो अभिप्रेरणा की व्याख्या अपने-अपने अनुसार करते हैं।

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त- फ्रायडवादियों ने 'सेक्स' को व्यवहार की प्रारंभिक अभिप्रेरक शक्ति मना और इसे 'लिबिडो' कहा। वे अहं तथा व्यक्ति की आत्म घटना पर बल देते हैं। अहं इड् की उत्तेजनाओं अर्थात् अचेतन के आरम्भिक भाग का नियम करता है- इस भाग में अनियंत्रित सुख-भोग की आकांक्षी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती है। अतः सैक्स-शक्ति की सन्तुष्टि और उसके समायोजन के प्रयासों से उत्पन्न चिन्ता विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की ओर अग्रसर करती है।

ज्ञानवादी सिद्धान्त- लेविन, वर्दीहमर, हाइडर, फैस्टिंजर, न्यूकाम्ब और हैलसन ज्ञानवादी सिद्धान्त को मानने वाले थे। अभिप्रेरणा के ज्ञानवादी सिद्धान्त घटनाओं के ज्ञान तथा पूर्णज्ञान पर केन्द्रित है। इसके अनुसार हम समझ, विचार तथा निर्णय द्वारा उन सापेक्षित-मूल्यों को चुन लेते हैं जो हमारे व्यवहार को अनुशासित करते हैं । हम उन विश्वासों, विचारों तथा आशाओं का निर्माण करते हैं जो हमारे लक्ष्य-अनुगामी व्यवहार का नियम करते हैं,। ज्ञानवादी आदर्श इस कल्पना पर निर्मित किये गय हैं कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में लोगों की अपनी-अपनी पसन्द होती है। किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त परिणाम उसके चुनावों तथा उन घटनाओं पर आधारित होता है जो उसके नियंत्रण से परे होती है। अतः जब कोई व्यक्ति उन विकल्पों में से चुनता है जिनके परिणाम अनिश्चित हों, तो इसमें कुछ खतरा भी रहता है और यह अपने आप में अभिप्रेरक है। ज्ञानवादी सिद्धान्त व्यक्ति द्वारा विकल्पों में किये गये चुनाव को उसमें काम कर रही कार्य-शक्ति पर आधारित मानते हैं।

3) व्यवहारवादी सिद्धान्त- थार्नडाइक, हल, मिलर एवं डोलर्ड, मौरेर, स्पैन्स, स्किनर, और पी0टी0 यंग व्यवहारवादी सिद्धान्तों के मुख्य समर्थक हैं। अभिप्रेरणा की धारणाएँ मुख्य रूप से नव-दृढ़ता के सिद्धान्त पर आधारित है। व्यवहार को लक्ष्य अभिमुख माना जाता है और अभिप्रेरणा को शक्ति प्रदान करने वाले तत्वों तथा उसे निर्देशित करने वाले तत्वों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न सैद्धान्ति धारणाओं का प्रयोग किया जाता है। व्यवहारवाद के प्राचीन रूपों 'अनुप्रेरकों की कमी' की धारणा का प्रयोग किया गया है जो शरीर में बुनियादी शक्ति-स्रोत को अभिन्न अनुप्रेरक मानती है। इन अनुप्रेरणाओ को लक्ष्य अभिमुख क्रियाओं की ओर अग्रसर करने के लिए ही व्यवहार की दिशा निर्देशित होती है। अधिकांश प्राचीन व्यवहारवादी सिद्धान्त इस बात को मानते हैं कि अभिप्रेरणा शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं से पैदा होती है। नवीतनम सिद्धान्त उदाहरणस्वरूप, 1953 में प्रतिपादित स्किनर का सिद्धान्त-अभिप्रेरणा की विशुद्ध व्यावहारिक धारणा को ही मान्यता देते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि क्रियात्मक उद्देश्य अथवा लक्ष्य अभिमुख व्यवहार की स्वीकृति से परे किसी भी कल्पना को आन्तरिक शक्ति स्रोतों पर आधारित नहीं माना जा सकता। व्यवहार कई परिणामात्मक स्थितियों की ओर उन्मुख होता है और यदि इन स्थितियों का शारीरिक व्यवहार में लगातार पालन होता रहे तो उन्हें क्रियात्मक रूप से पुरस्कारात्मक स्थितियाँ कहा जा सकता है।

संक्षेप से हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरणा के व्यवहारवादी सिद्धान्तों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है-

1. समस्त व्यवहार की अभिप्रेरणा आवश्यकताओं तथा अनुप्रेरकों पर आधारित होती है।
2. केवल वही अनुक्रियाएँ स्थायी होती हैं जिनसे आवश्यकता या अनुप्रेरणा कम होती है। इसी अर्थ में ही सीखने का पुरस्कार निहित है।
3. आवश्यकताएँ शारीरिक भी हो सकती हैं और मनोवैज्ञानिक भी प्रारम्भिक भी हो सकती हैं और माधमिक भी।
4. शक्ति आवश्यकता को कम करने की क्रिया है या परिणामात्मक नव दृढ़ता की क्रिया है। इसकी दिशा आदतों द्वारा ही स्पष्ट होती है।

1) **शारीरिक सिद्धान्त-** लार्ड रदरफोर्ड, विलियम जेम्स, जैगविल, लैशले, मार्गन एवं बीच, क्रैशमर एवं शैलडन, हैब एवं स्टैलर इस सिद्धान्त के समर्थक है। लार्ड रदरफोर्ड के कथनानुसार 'सभी व्याखाएँ शारीरिक दृष्टि से होनी चाहिए। समूचा विज्ञान या तो भौतिक विज्ञान है या तथ्यों का एकत्रीकरण है।' विलियम जेम्स और जैगविल ने भी इन्हीं विचारों को प्रकट किया है। उनका विश्वास है कि मन से सभी रहस्य स्नायुविक-प्रणाली की कोशिकाओं में निहित हैं। लैशले, मार्गन और बीच ने शारीरिक-सिद्धान्त का समर्थन किया। क्रैशमर एवं शैलडन, जिन्होंने व्यक्तित्व एवं शरीर के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन किया है -भी अप्रत्यक्ष रूप से अभिप्रेरणा के शारीरिक सिद्धान्त के

पक्ष में हैं क्योंकि उन्होंने इस बात को निश्चित करने का प्रयास किया कि विभिन्न प्रकार की शरीर-रचना के अनुसार आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, रूचियां तथा प्रवृत्तियां भी विभिन्न होती है। हैब एवं स्टैलर भी अभिप्रेरणा के शारीरिक सिद्धान्त के समर्थक हैं।

2) **आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त-** यह सिद्धान्त अब्राहम मैसलो द्वारा प्रतिपादित है। इसमें आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया है। मैसलों ने आवश्यकताओं की तीव्रता को आधार बनाया। उनके अनुसार कुछ आवश्यकताऐं ऐसी होती हैं, जिन्हें तुरन्त पूरा करना आवश्यक होता है और कुछ आवश्यकतायें ऐसी होती हैं, जो की बाद में भी पूरी की जा सकती है। जैसे-एक भूखा व्यक्ति सबसे पहले अपनी भूख शान्त करेगा और शेष अन्य आवश्यकतायें बाद में पूरा करेगा। चूँकि मैसलों ने आवश्यकताओं को उनकी तीव्रता के आधार पर पांच वर्गों में विभाजित कर उसका एक पदानुक्रम प्रस्तुत किया, इसीलिए इसे आपश्यक पदानुक्रम सिद्धान्त कहते हैं।

3) **मैसलों ने इन आवश्यकताओं को पाँच भागों में निम्नवत बाँटा है-**शारीरिक प्रेरक या आवश्यकतायें

1. सुरक्षा प्रेरक या आवश्यकतायें
2. स्नेह व लगाव प्रेरक या आवश्यकतायें
3. आत्मसम्मान प्रेरक या आवश्यकतायें-
4. आत्मसिद्धिकरण प्रेरक या आवश्यकतायें-

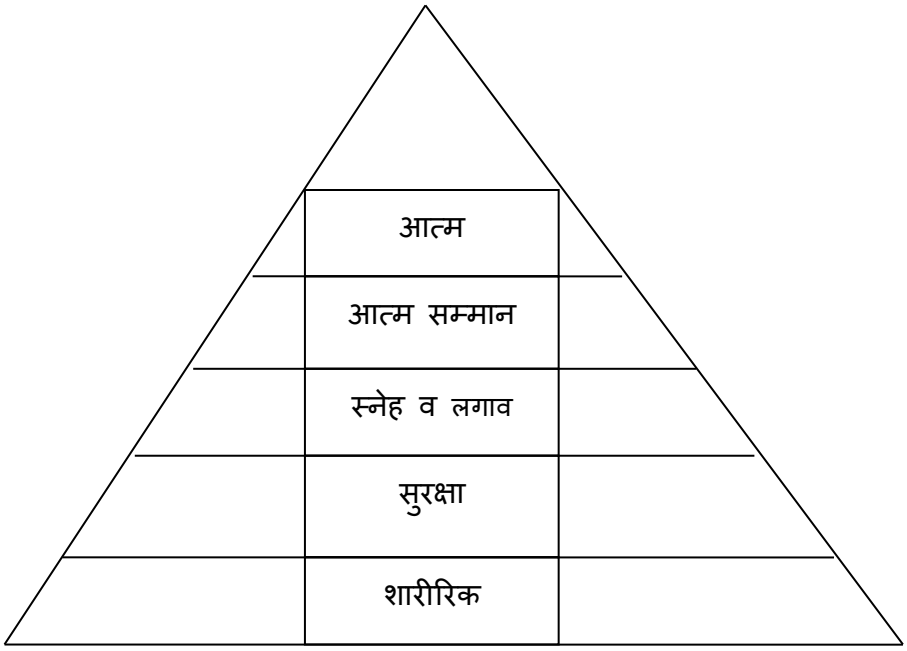

(मैसलो का आवश्यकता पदानुक्रम)

1. **शारीरिक आवश्यकतायें या प्रेरक -**इसे मनौदेहिक आवश्यकता भी कहते हैं। ये मानवीय आवश्यकताओं को आदि बिन्दु होता है। ये व्यक्ति में प्राथमिक या बुनियादी आवश्यकताओं के

कारण उत्पन्न होते हैं जैसेभूख -, प्यास, नींद, सेक्स आदि। इनकी प्राप्ति होने पर ही शरीर स्वस्थ रहता है। इनके अभाव में शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है। जब तक इन प्राथमिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं होती है तब तक व्यक्ति उच्च स्तर पर आवश्यकताओं तक नहीं पहुँच पाता।

2. **सुरक्षा प्रेरक या आवश्यकता** -जब व्यक्ति की प्राथमिक अर्थात् शारीरिक आवश्यकता पूर्ण हो जाती है तब उस स्थिति में वह जीवन की सुरक्षा के प्रति प्रेरित होता है व ऐसे उपायों को करता है जिससे कि उसके जीवन को कोई खतरा न हो सके। जैसेजीवित रहना-, सुरक्षित रहना आदि।
3. **स्नेह व लगाव प्रेरक या आवश्यकतायें** -यह आवश्यकता तबही उत्पन्न होती है जब व्यक्ति की पहली व दूसरी आवश्यकताऐं पूर्ण हो जाती है। इसमें व्यक्ति मित्र बनाने लगता है, समूह में अपना स्थान बनाने लगता है आदि। वह अन्य लोगों से स्नेह की प्राप्ति चाहता है।

4. **4. आत्म-सम्मान प्रेरक या आवश्यकताऐं-** यह उच्च स्तर की आवश्यकता मानी जाती है, जो प्रारम्भिक तीनों आवश्यकताओं के पूर्ण होने पर ही प्राप्त की जा सकती है। इसमें व्यक्ति को अपने आत्म-सम्मान की चिन्ता होती है, तथा वह आत्म-सम्मान चाहता है क्योंकि वह अपमान बर्दास्त नहीं कर सकता।

5. **आत्म-सिद्धिकरण प्रेरक या आवश्यकताऐं -** वह भी एक उच्च आवश्यकता होती है जो अन्य सभी आवश्यकताओं में सबसे बड़ी होती है। इसमें व्यक्ति सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक व आध्यात्मिक रूप से समाज के लिये उसके हित में कार्य करना चाहता है जिससे उसके मरने के बाद भी अन्य व्यक्ति उसे याद रखें। अतः इसके अनुसार , एक व्यक्ति को वही होना चाहिए, जो वह हो सकता है। जैसे-कलाकार को चित्रकारी करनी चाहिये, या कवि को कविता लिखनी चाहिये आदि।

8.7 सारांश

चर प्रेरणा व्यक्ति की ऐसी आन्तरिक अवस्था है जिसके उत्पन्न होने पर वह बैचेनी का अनुभव करता है और इसे दूर करने के लिए एक विशेष प्रकार की क्रिया करता है। इस आन्तरिक अवस्था की उत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकार की आवश्यकता की कमी या इच्छा से होती है।

व्यक्ति जब किसी प्रकार की आवश्यकता से अग्रसर होकर किसी क्रिया को करता है, तब उसकी वह क्रिया आवश्यकता की पूर्ति होने अथवा उद्देश्य को प्राप्त करने की अवस्था तक चलती रहती है और आवश्यकता की पूर्ति होते ही वह क्रिया समाप्त हो जाती है। तथा व्यक्ति की बैचेनी दूर हो जाती है। इसे आवश्यकता प्रणोदन-प्रोत्साहन चक्र के रूप में भी जाना जाता है।

अभ्रिपेरक दो प्रकार के होते हैं- जन्मजात अथवा जैविक तथा अर्जित अथवा समाजजनित। जैविक प्रेरक के अन्तर्गत भूख, प्यास, सेक्स, मातृत्व भाव, मलोत्सर्जन, नींद आदि आते हैं। सामजजनित प्रेरक के अन्तर्गत सामुदायिकता, अर्जनात्मकता, जिज्ञासा, आत्मसम्मान तथा कलह सार्वजनिक

अर्जित प्रेरक हैं जबकि उपलब्धि-प्रेरणा, आकांक्षा-स्तर आदत की विवशता, अभिरूचियां, मनोवृत्तियां आदि वैयक्तिक अर्जित प्रेरक हैं।

अभिप्रेरणा के निम्नलिखित सिद्धान्त लोकप्रिय हैं- मनोविश्लेषणात्मक, ज्ञानवादी, व्यवहारवादी, शारीरिक तथा आवश्यकता पदानुक्रम।

8.8 शब्दावली

प्रेरणा: प्रेरणा व्यक्ति की यह आन्तरिक अवस्था है जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करती है और उसे लक्ष्य प्राप्ति तक जारी रखती है।

आवश्यकता :व्यक्ति में आन्तरिक या बाह्य कारणों से उत्पन्न वह अवस्था जिसकी अनुभूति अभाव के रूप में होती है।

प्रणोदन: व्यक्ति की वह आन्तरिक शक्ति जो उसके व्यवहार को लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसारित करती है।

प्रोत्साहन: वैसी वस्तु अथवा लक्ष्य जिसकी ओर व्यक्ति का प्रेरित व्यवहार निर्देशित रहता है।

समस्थितिः व्यक्ति द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके शारीरिक संतुलन बनाये रखने हेतु कार्यशील होने की अवस्था को समस्थिति कहते हैं।

8.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1) प्राणी की क्रिया को आकर्षित करने वाली वस्तु या लक्ष्य को कहते हैं ..... । (प्रणोदन/ प्रोत्साहन)
- 2) ..... खींचते हैं तथा ..... ठेलते हैं।
- 3) ''प्रेरणा प्राणी की वह अवस्था है जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति वातावरण में उपस्थित विभिन्न चीजों में से विशेष चीज को प्राप्त करने की ओर चयनात्मक ढंग से अग्रसारित होती है।'' यह परिभाषा किसने दी? (गिलफोर्ड, न्यूकॉम्ब, कैंलडर)।
- 4) मातृत्व भाव एक ..... प्रेरक है (जैविक /सामाजिक)
- 5) अर्जनात्मकता एक ..... प्रेरक है (जैविक /सामाजिक)
- 6) इनमें से वैयक्तिक अर्जित प्रेकर कौन है?
- (क)मलोत्सर्जन (ख) सामूहिकता
- (ग) अकांक्षा-स्तर (घ) भूख
- 7) अभिप्रेरणा के आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन है?

उत्तर: 1) प्रोत्साहन 2) प्रोत्साहन तथा प्रणोदन 3) न्यूकॉम्ब 4) जैविक

5) सामाजिक 6) आकांक्षा स्तर 7) मैसलो

8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान- अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान - ओझा एवं भार्गव- हरि प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित करें एवं इसकी विशेषताएँ बतायें।
2. अभिप्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालें तथा विभिन्न जैविक प्रेरकों का वर्णन करें।
3. प्रणोदन एवं प्रोत्साहन में अन्तर स्पष्ट करें। वैयक्तिक अर्जित प्ररकों का विवेचन करें।
4. सार्वजनिक सामाजिक प्रेरकों का उदाहरण के साथ व्याख्या करें।
5. टिप्पणी लिखें-
   क) क) आवश्यकता-प्रणोदन-प्रोत्साहन
   ख) उपलब्धि प्रेरक
   ग) प्रेरणा का आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त

इकाई 9. संवेग का अर्थ, शारीरिक परिवर्तन एवं संवेग के सिद्धांत : जेम्स लांजे, कैनन बार्ड एवं क्रियाशीलता सिद्धांत - (Meaning of Emotion, Physiological Changes and Theories of Emotions: James Lange, Cannon Bard and Activation Theories)

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 संवेग का स्वरूप

9.3.1 संवेग एवं प्रेरणा

9.3.2 संवेग एवं भाव

9.4 संवेग में होने वाले शारीरिक परिवर्तन

9.5 संवेग के सिद्धान्त

9.5.1 संवेग के सम्बन्ध में सामान्य विचार

9.5.2 जेम्स-लांजे सिद्धान्त

9.5.3 कैनन-बार्ड सिद्धान्त

9.5.4 क्रियाशीलता सिद्धान्त

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

9.9 संदर्भ गन्थ सूची

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में अभिप्रेरणा के स्वरूप, प्रकार व सिद्धान्तों का अध्ययन किया। आपने देखा कि प्रेरणा किस प्रकार व्यक्ति को लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में गतिशील बनाती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति के साथ ही प्राणी की गतिशीलता घट जाती है। प्रेरणा के सामान ही संवेग भी व्यक्ति को उत्तेजित करता है और उसे सामान्य से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने को बाध्य कर देता है।

प्रस्तुत इकाई में आप संवेग की परिभाषा, उसे स्वरूप संवेग और प्रेरणा में अन्तर, संवेग और भाव में अन्तर, संवेग में सम्पन्न होने वाले शारीरिक परिवर्तन तथा संयोग के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि आप संवेग के संप्रत्यय से भली-भाँति अवगत हो पायेंगे तथा उसे भाव एवं प्रेरणा से अलग करने में समर्थ हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त, संवेगावस्था में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों एवं संवेग के विभिन्न सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान आप इस इकाई का अध्ययन कर प्राप्त कर सकेंगे।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

1. संवेग को परिभाषित कर सकें तथा इसके स्वरूप को स्पष्ट कर सकें।
2. संवेग को प्रेरणा एवं भाव से विभेदित कर सकें।
3. संवेग के दौरान सम्पन्न शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन कर सकें तथा
4. संवेग के विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्ष कर सकें।

9.3 संवेग का स्वरूप

संवेग एक भावात्मक प्रक्रिया है, जिसका प्राणी के जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह अंग्रेजी के 'इमोशन' शब्द का हिन्दी रूपांतर है। 'इमोशन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन के इमोवर शब्द से हुई है, जिसका अर्थ उत्तेजित करना या घबड़ा देना होता है। अतः व्युत्पत्ति के आधार पर संवेग से तात्पर्य प्राणी के उस अवस्था विशेष से है जिसमें प्राणी उत्तेजित होकर जोशपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करता है।

संवेग की संक्षिप्त परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि संवेगात्मक तथा असंवेगात्मक व्यवहारों के

बीच स्पष्ट अन्तर कर पाना कठिन है। साथ ही, किसी एक संवेग और दूसरे संवेगों के बीच भी स्पष्ट अन्तर करना दुष्कर है, क्योंकि जिस प्रकार रंगपट्ट पर विभिन्न रंग एक-दूसरे से मिले हुए होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न संवेग, जैसे-क्रोध, भय, ईर्ष्या , प्रेम, घृणा आदि एक-दूसरे के साथ इस प्रकार मिश्रित होने के फलस्वरूप ही संवेग भाव की अपेक्षा अत्यधिक जटिल स्वरूप का होता है। यहाँ तक कि सुखद एवं दुखद संवेग भी परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यक्ति का ऊँचे ओहदे पर प्रोन्नति के बाद स्थानांतरण होता है, तब उस समय उसे एक और प्रोन्नति होने के कारण खुशी एवं हर्ष का संवेग होता है तो दूसरी और, उसे अपने मित्रों से बिछुड़ने का दःख या निराशा भी होती है।

संवेग की परिभाषा देने में एक और कठिनाई यह होती है कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ सामान्य स्वरूम की होती है। यदि हम किसी व्यक्ति की संवेगात्म अवस्था पर गौर केरें तो स्वष्ट होगा कि उस अवस्था विशेष में प्राणी संपूर्ण रूप से विक्षोम की अवस्था में रहता है। उकसी संपूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है। और सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक परिवर्ततनों का एक साथ निरीक्षण करना या मापना प्रायः कठिन होता है।

उपर्युक्त कठिनाईयों के बावजूद, मनोवैज्ञानिकों ने और खासकर शरीर क्रिया शास्त्रियों ने अनेक प्रकार के संवेगों का अध्ययन कर प्राणी में होने वाले परिवर्तनों को पहचानने की कोशिश की है तथा संवेग की परिभाषा देने की भी चेष्टा की है। अतः कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। संवेग को परिभाषित करते हुए वार्ड ने कहा कि ''संवेग पूर्णरूपेण मनोविकृति की अवस्था है जिससे संज्ञानात्मक, सुख-दुःखात्मक भाव तथा क्रियात्मक वृत्तियाँ सन्निहित होती है''

वुडवर्थ के अनुसर ''प्राणी के उत्तेजित होने की स्थिति को संवेग कहते है''।
वाटसन का कहना है ''संवेग एक प्रकार का अप्रकट व्यवहारों का प्रतिरूप है, जिसमें संपूर्ण शारीरिक तंत्रों और विशेषकर अंतरावयवों एवं ग्रंथियों में भारी परिवर्तन होते है''।

यंग पी0टी0 ने संवेग को निम्न प्रकार परिभाषित किया है -''संवेग प्राणी में उत्पन्न पूर्णरूप से तीक्षण विक्षोम की अवस्था को कहते हैं जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा जिसमें व्यवहार, चेतन अनुभव और अंतरावयवों की क्रियाएँ सम्मिलित रहती है''

उपर्यक्त सभी परिभाषाओं में पी0टी0 यंग द्वारा दी गई परिभाषा की उपयुक्त मालूम पड़ती है। इस परिभाषा के अनुसार, संवेग की अवस्था में व्यक्ति के व्यवहारों में तीव्र विक्षोम उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रभाव व्यक्ति पर पूर्ण रूप से पड़ता है। इसकी उत्पत्ति मानसिक होती है तथा इसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अंतरावय -संबंधी क्रियाओं में परिवर्तन होते हैं।

संवेग की अवस्था को तीव्र विक्षोम की अवस्था इसलिए कहा गया है कि संवेग प्रायः एकाएक तीव्र रूप से व्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक अवस्था में उपद्रव उत्पन्न करता है। व्यक्ति में उत्पन्न उपद्रव की यह स्थिति उसके संपूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को प्रभावित करती है तथा इस तरह के उपद्रव का कारण मानसिक रूप से संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करने के कारण होता है। इसे स्पष्ट करने हेतु हम एक उदाहरण लें। मान लें, आप किसी सुनसान रास्तें से अंधेरी रात में जा रहे हैं। अचानक आप किसी जंतु के रेंगने की आवाज सुनते हैं और जैसे ही टॉर्च जलाते हैं, आपकी नजर एक सर्प पर पड़ती है। सर्प को देखते ही आप में भय का संवेग उत्पन्न होता है। यदि आपकी संवेगात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि सर्प का एकाएक प्रत्यक्षीकरण होते ही भय का संवेग उत्पन्न होता है और साथ-ही-साथ कुछ आंतरिक और बाह्य शारीरिक परिवर्तन भी होने लगते हैं- रोंगटे खड़े हो जाते हैं, चहरे की भाव-भंगिमाओं में भी परिवर्तन होने लगते हैं, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है तथा उस परिस्थिति के साथ सफल अभियोजन हेतु या तो आप भागने लगते हैं अथवा ढेले, पत्थर या डंडे से उसे मारने लगते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति की वर्तमान मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में एक प्रकार का उपद्रव हो जाता है, जो उसके संपूर्ण शरीर को प्रभावित करता है।

संवेग के संबंध में उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में निम्नलिखित तीन प्रकार की क्रियाएँ होती है-

क. चेतन अनुभूति संबंधी क्रियाएँ
ख. व्यवहार संबंधी क्रियाएँ एवं
ग. अंतरावयवसंबंधी क्रियाएँ-

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संवेग की उत्पत्ति में निम्नलिखित बातें पाई जाती है।-

1. संवेग उत्पन्न करने वाली उत्तेजना का उपस्थित होना,

2. उस उत्तेजना या परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करने के फलस्वरूप व्यक्ति का उत्तेजित होना,

3. इस उत्तेजित अवस्था की चेतना या ज्ञान या अनुभव का होना,

4. इस उत्तेजित अवस्था के फलस्वरूप बाह्य एवं आंतरिक परिवर्तनों, का होना, तथा

5. इस उत्तेजना विशेष के प्रति संगेगात्मक व्यवहार करना।

9.3.1 संवेग एवं प्रेरणा-

यदि हम 'प्रेरणा' और संवेग के स्वरूप पर विचार करें तो मालूम होगा कि इन दानों प्रक्रियाओं में बहुत अधिक सामनताएँ हैं। प्रेरणा की ही तरह संवेग भी लक्ष्य प्राप्ति की ओर निर्देशित होता है। इसलिए, इन दानों के बीच प्रायः अन्तर बताना मुश्किल होता है। उदाहरण स्वरूप, क्रोध उत्पन्न करने वाली वस्तु को नष्ट करना होता है। इसी तरह, भय की अवस्था में व्यक्ति का लक्ष्य सुरक्षित स्थान की खोज करना, प्रेम की अवस्था में प्रेयसी का लक्ष्य अपने प्रेमी के निकट रहना होता है।

प्रेरणा और संवेग में दूसरी समानता यह है कि प्रेरणात्मक प्रतिरूपों में संवेगों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। शायद इसीलिए, ऐसा माना जाता है कि संवेगों के बिना जीवन वस्तुतः गतिविहीन हो जाएगा। 'संवेग' और 'प्रेरणा- दोनों शब्दों की उत्पत्ति लैटिन के शब्दों से हुइ है जिनके अर्थ समान हैं, अर्थात् 'गतिशील होना' यही कारण है कि हम किसी व्यक्ति को क्रोध की अवस्था में देखकर उसका क्रुद्ध हो जाना अथवा विषाद की अवस्था में उसका अति दुखी हो जाना आदि कहते हैं। इस प्रकार, प्रेरणा की तरह संवेग भी व्यक्ति को कार्यशील बनाता है।

संवेग और प्रेरणा में उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनो प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनके बीच प्रधान अन्तर यह है कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति संवेगात्मक परिस्थित की अनुभूतियों (sensations) के भावात्मक पहलुओं, अर्थात् उनसे संबद्ध दुखद या सुखद भावों पर ही जोर देता है। तथा याद रखता है और लक्ष्य-निर्देशन का पक्ष उपेक्षित रह जाता है। जैसे-तब हम अपने कमरे में पढ़ रहे होते हैं और अचानक हमारी दृष्टि एक जीवित सर्प पर पड़ती है, तब उस समय भय का संवेग उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में सर्प के काटने से मृत्यु की संभावना की अनुभूति एवं संबद्ध दुखद भाव ही अत्यधिक प्रभावी रहता है और भयावह स्थिति से अपने को बचाने का लक्ष्य उतना प्रभावी नहीं रहता। परन्तु प्रेरणा में स्थिति ठीक विपरीत रहती है। प्रेरणात्मक व्यवहार मुख्य रूप से लक्ष्य-निर्देशित रहता है

और उससे संबद्ध सुख या दःख के भाव अपेक्षाकृत उपेक्षित रहते हैं। जैसे-भूख से प्रेरित व्यक्ति जब भोजन की तलाश में होटल की ओर जाता है तब उस समय उसका मुख्य उद्देश्य होटल से भोजन प्राप्त करना होता है, भोजन रूचिकर मिलेगा या नहीं-यह भाव प्रधान नहीं रहता।

संवेग और प्रेरणा में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि बाह्य उत्तेजना (संवेगात्मक परिस्थिति) के उपस्थित होने तथा उक्त उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण करने पर संवेग उत्पन्न होता है। इससें यह अर्थ निकलता है कि संवेग बाह्य उत्तेजना के प्रति की जाने वाली ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया से प्रारंभ होता है। लेकिन, प्रेरणा और खासकर जैविक प्रणोदन प्राणी की आंतरिक अवस्थाओं की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है जिनका संबंध तंतुओं की आवश्यकताओं का घोतक होता है, जिसकी पूर्ति स्वतः क्रम के अनुसार हो जाती है, जैसे -प्यास की अवस्था को लें। प्यास की अवस्था में शारीरिक रसायन में जल की मात्रा में कमी हो जाती है, इससे कंठ और मुँह सूखने लगता है। अब इस अवस्था में जैसे ही हम एक ग्लास पानी पी लेते हैं, जल की कमी पूरी हो जाती है और शारीरिक रसायन में पुनः संतुलन कायम हो जाता है। परन्तु संवेग की अवस्था में ऐसी बात नहीं पाई जाती। संवेग की अवस्था प्रायः आपातकालीन स्थिति होती है, जिसमें व्यक्ति के समक्ष कोई स्वतः प्रतिक्रियात्मक क्रम का प्रतिरूप उपलब्ध नहीं रहता। जैसे-जब आप रात में अचानक उठते हैं और देखते हैं कि घर के कोने में आग लग गई है तब यह स्थिति आपातकालीन होती है और भय का संवेग उत्पन्न होता है। इस स्थिति से निबटने के लिए आपके सामने प्रतिक्रिया का कोई स्वतः प्रतिरूप नहीं होता अतः आपको जल्दबाजी में किसी उपयुक्त प्रतिक्रिया की तलाश करनी पड़ती है।

स्पष्ट है कि समानताओं के रहते भी संवेग और प्रेरणा एक-दूसरे से भिन्न प्रक्रियाएँ हैं।

9.3.2 संवेग एवं भाव- साधारणतः भाव और संवेग में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। लेकिन, ऐसा समझना गलत है। यद्यपि, इन दोनो प्रक्रियाओं का संबंध मन के भावात्मक पहलू से है, फिर भी इनमें निम्नलिखित अन्तर है-

1. भाव एक सरल प्राथमिक भावात्मक मानसिक क्रिया है, जबकि संवेग एक जटिल भावात्मक मानसिक क्रिया है।

2. भाव संवेग से पूर्व होन वाली क्रिया है तथा प्रत्येक संवेग में मुख या दुःख के भाव निहित रहते हैं, जैसे- शोक और आनंद के संवेगों में क्रमशः दुख और सुख भाव रहते हैं। इस प्रकार संवेग का भाव के साथ गहरा संबंध रहताहै। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना भाव के संवेग का होना संभव नहीं है। लेकिन, भाव में ऐसी बात नहीं पाई जाती । संवेग के अभाव में भाव होते हैं। जब भाव किसी-न-किसी बाह्य या आंतरिक व्यवहारों में प्रकट होने लगता है तब वह भाव न रहकर संवेग हो जाता है। इसलिए

कहा जा सकता है कि संवेग एक सक्रिय भावात्मक मानसिक क्रिया है, जबकि भाव एक अपेक्षाकृत कम सक्रिय भावात्मक मानसिक क्रिया है।

3. भाव सदा आत्मगत होता है, पर संवेग आत्मगत और वस्तुगत दोनों होता है। उदाहरणार्थ, हम दूसरे के सुखद या दुखद भावों का बाह्य रूप से निरीक्षण नहीं कर सकते, किन्तु जब कोई क्रोध, भय, प्रेम आदि संवेगात्मक अवस्था में होता है तब उसके संवेगात्मक प्रदर्शनों का निरीक्षण बाह्य रूप से किया जाना संभव है।

4. भाव के केवल दो ही प्रकार-सुख और दुख होते हैं। लेकिन संवेग के दो से अधिक प्रकार होते हैं जैसे- क्रोध, भय, प्रेम, शोक, ईर्ष्या आनंद आदि।

5. भाव के किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन नहीं होता परन्तु संवेग में अनेक तरह के शारीरिक परिवर्तन होते हैं। अर्थात् भाव में केवल अनुभूति पक्ष रहता है और संवेग में अनुभूति एवं व्यवहार-दोनो पक्ष रहते हैं।

6. भाव की अपेक्षा संवेग की अवस्था में व्यक्ति का संपूर्ण शरीर प्रभावित होता है।

7. संवेग में व्यक्ति पूर्ण रूप से क्षुब्ध या उपद्रव की अवस्था में रहता है, लेकिन भाव में ऐसी बात नहीं पाई जाती।

अतः स्वष्ट है कि भाव और संवेग दोनो के एक भावात्मक या रागात्मक प्रक्रिया होते हुए भी, इनके स्वरूप एवं व्यवहार-संबंधी प्रदर्शन एक-दूसरे से भिन्न है।

9.4 संवेग में होने वाले शारीरिक परिवर्तन

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है संवेग की अवस्था में व्यक्ति पूर्णरूप से क्षुब्ध या उपद्रव की अवस्था में आ जाता है। उपद्रव की यह स्थिति सामान्य शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन होने के फलस्वरूप होती है। यह परिवर्तन बाह्य एवं आंतरकि दोनों प्रकार का होता है। बाह्य परिवर्तन से हमारा तात्पर्य शारीरिक अवस्था के वैसे परिवर्तनों से है, जिन्हें हम बाहर से नग्न आँखों द्वारा देख या निरीक्षण कर सकते हैं। ऐसे परिवर्तनों में क) मुखाकृतिक- अभिव्यंजन में परिवर्तन ख) स्वराभिव्यंजन में परिवर्तन, तथा ग) शारीरिक स्थिति में परिवर्तन मुख्य है।

आंतरिक परिवर्तनों से हमारा तात्पर्य शरीर के अन्दर की क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों से है, जैसे-हृदय की गति में परिवर्तन, पाचन-क्रिया में परिवर्तन, रक्तसंचार में परिवर्तन आदि।

यहाँ इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों का वर्णन संक्षेप में किया जा रहा है।

1) **मुखाकृतिक अभिव्यंजन-** संवेग की अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों में मौखिक आकृति में परिवर्तनों के लक्षण सर्वाधिक स्वष्ट रूप से देखे जाते हैं। विभिन्न प्रकार के संवेगों में चेहरे की गति, संक्षोम, आदि के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं जिनके आधार पर विभिन्न संवेगात्मक भावों को पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, क्रोध की अवस्था में आँखों का लाल होना तथा भवों का चढ़ जाना, दाँतों को पीसना, होठों का फड़फड़ाना आदि परिवर्तन होते हैं। मुखकृतिक अभिव्यंजन संबंधी परिवर्तनों के आधार पर संवेगों की पहचान प्रायः व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर आसानी से कर लेता है।

2) 2) यद्यपि विभिन्न संवेगात्म अवस्थाओं में खास-खास प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन पाए जाते हैं, तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विशिष्ट प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन किसी संवेगविशेष में ही पाया जाता है, क्योंकि एक ही तरह के मुखाकृतिक अभिव्यंजन द्वारा एक से अधिक प्रकार के संवेगों का प्रदर्शन अलग-अलग व्यक्तियों, परिस्थितियों और सामाजिक या सांस्कृतिक परिवेशों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, क्रोध और भय अथवा खुशी एवं विस्मय की अवस्थाओं का प्रदर्शन लगभग एक ही तरह के मुखाकृतिक अभिव्यंजन द्वारा होता है फिर,अलग-अलग संस्कृतियों में भी एक ही प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन का भिन्न-भिन्न संवेगात्मक अर्थ होता है। जैसे कि कुछ संस्कृतियों 'विस्फारित नेत्र' का अर्थ आश्चर्य या विस्मय होता है तो कुछ संस्कृतियों में यह क्रोध अथवा भय का सूचक होता है। इस संबेध में डार्विन तथा फर्नबर्गर ने एक प्रयोग किया। उन्होंने कुछ निर्णायकों के समक्ष विभिन्न संवेगों को प्रकट करने वाले चेहरों के चित्र रखे और उनसे चित्रों को देखकर संवेगात्क भावों का निर्णय करने को कहा। देखा गया कि निर्णायकों के विचारों में काफी विभिन्नता भी । एक ही चित्र को विभिन्न निर्णायकों के विचारों में काफी विभिन्नता थी । एक ही चित्र को विभिन्न निर्णायकों ने अलग-अलग संवेगों का सूचक बताया। इन मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चेहरो के चित्र जिन परिस्थितियों में लिए गए है, जब तक उन परिस्थितियों का ज्ञान होगा, केवल चेहरों की आकृति के आधार पर किसी संवेगविशेष का निश्चित रूप से निर्धारण करना संभव नहीं। इसीलिए वुडवर्थ ने मुखाकृतिक अभिव्यंजन के आधार पर संवेगों का अध्ययन करना गलत माना है।

3) **स्वराभिव्यंजन-** संवेग की अवस्था में वाकतंत्र की क्रियाओं में भी विशेष प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिससे स्वराभिव्यंजन सामान्य अवस्था से भिन्न स्वरूप का हो जाता है जैसे-रोना, चिल्लाना, हँसना इत्यादि। उदहारण के लिए, चीखने या चिल्लाने जैसी आवाज से भय या विस्मय के संवेग का पता चलता है, विलाप या कराहने जैसी आवाज से पीड़ा या अप्रसन्नता, सिसकने या सुबकने की

आवाज से दुख, आवाजों के टूटने या लड़खाने से गहरा दुख जोर-जोर से हँसने की आवाज से आनंद या ऊँची आवाज में चिल्लाने से क्रोध आदि संवेगों का पता चलता है।

4) परन्तु मुखाकृतिक अभिव्यंजन की ही तरह केवल स्वराभिव्यंजन के आधार पर संवेगों का निश्चित निर्धारण संभव नहीं है, क्योंकि अनेक परिस्थितियों में एक ही प्रकार का स्वराभिव्यंजन दो भिन्न संवेगों में पाया जाता है। अतः यहाँ भी संवेगात्मक परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है।

5) शारीरिक स्थितियाँ -संवेग की अवस्था में प्राणी की शारीरिक स्थिति में भी परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए, भय की अवस्था में व्यक्ति भागने जैसी मुद्राओं का प्रदर्शन करता है दुख की अवस्था में व्यक्ति झुका रहता है क्रोध की अवस्था में आक्रामक मुद्राएँ बना लेता है और खुशी की अवस्था में सिर ऊँचा कर लेता है आदि। लेकिन, यहाँ भी निम्नलिखित तीन बाते ध्यान देने योग्य है-

क) एक ही संवेग की अवस्था में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की शारीरिक मुद्राएँ अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ, भय की अवस्था में एक व्यक्ति यदि भागने की मुद्रा का प्रदर्शन करता है, तो दूसरा व्यक्ति मूर्तिवत खड़ा रहता है।

ख) विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक ही प्रकार की शारीरिक मुद्रा अलग- अलग संवेगों का घोतक होता है।

ग) विभिन्न संवेग भिन्न-भिन्न शारीरिक मुद्राओं को उत्पन्न करते हैं।

4) साँस की गति परिवर्तन- सामान्य अवस्था में साँस लेने की गति का अनुपात 1:4 रहता है। लेकिन, संवेग की अवस्था में यह अनुपात सामान्य से कम या अधिक हो जाता है। साँस लेने की गति का धीमा या तेज होना विशेष प्रकार के संगेग की अवस्था-स्वरूप एवं तीव्रता पर निर्भर करता है। साँस की गति में होने वाले परिवर्तनों को न्यूमोग्राफ नामक यंत्र की सहायता से मापा जाता है। इस तंत्र द्वारा प्राणी के साँस लेने और छोड़ने की गति मेहोने वाले परिवर्तनों को जाना जाता है।

6) हृदय की गति में परिवर्तन- साँस लेने की क्रिया और हृदय की क्रिया में गहरा संबंध है। अतः जब किसी संवेगात्मक अवस्था में साँस की गति में परिवर्तन होता है तब उसके साथ-साथ हृदय की गति में भी परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम नामक यंत्र द्वारा मापा जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि क्रोध की अवस्था में हृदय गति सामान्य से बहुत अधिक बढ़ जाती है। भय की अवस्था में भी हृदय की गति बढ़ती हुई देखी जाती है। लेकिन, कभी-कभी इसकी गति धीमी या रुक जाने जैसी भी हो जाती है। कुछ ऐसे भी दृष्टांत देखने को मिलते हैं कि बहुत अधिक डर जाने अथवा किसी प्रकार का अचानक आघात पहुँचने के फलस्वरूपम हृदय की गति बहुत तेज हो जाती है परन्तु कभी-कभी इसकी गति क्षणभर के लिए बहुत अधिक मंद भी पड़ जाती है।

7) नाड़ी की गति में परिवर्तन -हृदय की गति के साथ नाड़ी की गति का गहरा संबंध हैं अतः संवेग की अवस्था में हृदय की गति में परिवर्तन होने के फलस्वरूप नाड़ी की गति में परिवर्तन का होना

स्वाभाविक ही है। संवेग की अवस्था में नाड़ी की गति भी सामान्य अवस्था की अपेक्षा हृदय की गति के अनुरूप की कम अधिक हो जाती है।

8) **रक्त -संबंधी परिवर्तन-**संवेग की अवस्था में रक्त संचालन में परिवर्तन, रक्तचाप में परिवर्तन तथा रक्त के रासायनिक तत्वों में परिवर्तन होते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि क्रोध की अवस्था में रक्तसंचालन की गति एवं रक्तचाप दोनो बढ़ जाते हैं। ऐसी ही बात प्रेम के संवेग में भी पाई जाती है। लेकिन, भय की अवस्था में रक्तसंचालन एवं रक्तचाप दानों की गति धीमी पड़ जाती है। इन परिवर्तनों को हम स्फिग्मोमैनोमीटर नामक यंत्र से मापते हैं। इनके अतिरिक्त रक्त के रासायनिक तत्वों के अनुपात में भी परिवर्तन होते हैं, जिसे रक्त की जाँच करके जाना जा सकता है। इन परिवर्तनों को नैदानिक रूप से डॉक्टरी आला, जिसे (stethoscope) कहते हैं, द्वारा भी जाना जा सकता है।

9) **रसपाक एवं पाचन क्रिया में परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में पाचन-संस्थान से संबंधित अवयवों की क्रियाओं में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन पाए जाते हैं। उदारहण के लिए, क्रोध और भय की अवस्था में लारग्रन्थि द्वारा लार का टपकना बंद हो जाता है, जिससे मुँह सूखने लगता है। लेकिन प्रेम की अवस्था में लार का स्राव बढ़ जाता है।

10) कैनन ने अपने प्रयोग में पाया कि संवेग की अवस्था में आमाशाय-आंत्रगति घट जाती है तथा आमाशय-रस का निकला भी बंद हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि क्रोध एवं चिंता से ग्रस्त व्यक्ति की पाचन क्रिया कमजोर पड़ जाती है जिससे उसमें कब्ज, अजीर्णता आदि की शिकायत लगभग स्थायी रूप से बनी रहती है।

11) त्वक-प्रतिक्रियाओं तथा मानस तरंगों में परिवर्तन- प्रयोगां द्वारा पाया गया है कि संवेग की अवस्था में सामान्य अवस्था की अपेक्षा त्वक्-प्रतिक्रिया एवं मानस तरंगों में भी काफी परिवर्तन होते हैं। त्वक्-प्रतिक्रिया में होने वाले परिवर्तनों में त्वचा का शुष्क होना अथवा पसीना काअधिक निकलना, त्वक्-ताप में परिवर्तन का होना, रोंगटे खड़ा होना, शरीर में सिहरन या रोमांच का उत्पन्न होना आदि प्रमुख हैं। इन परिवर्तनों को साइकोगैलवेना मीटर यंत्र से मापा जा सकता है। इस यंत्र द्वारा त्वचा-विद्युत प्रवाह के चालन की क्षमता का अध्ययन किया जाता है। त्वचा की यह क्षमता स्वेदग्रंथि की क्रिया पर निर्भर करती है, जिसका संचालन सहानुभूतिक मंडल द्वारा होता है। स्नायुमंडली के इस भाग की सक्रियता के फलस्वरूप स्वेदग्रंथि से पसीने का स्राव होता है जिससे त्वचा भींग जाती है और त्वचा की विरोधाशक्ति घट जाती है। किन्तु जब स्वेदग्रंथि निष्क्रिय हो जाती है, तब त्वचा सूख जाती है और उसकी विरोधाशक्ति बढ़ जाती है। त्वचा के इस विरोधाशक्ति का अध्ययन फेरे ने त्वचा पर बाहर से बिजली सटाकर, विद्युत - विरोधशक्ति मापकर किया है, जिसे 'फेरे विधि' अथवा 'बाह्य दैहिक विधि' कहते हैं।

12) त्वचा पर पाए जाने वाले बालों की जड़ो में सूक्ष्म चिकनी मांसपेशियाँ होती है। भय की अवस्था में सहानुभूतिक मंडल के प्रभावों से बालो की जड़े ऊपर की ओर उठ जाती है जिससे बाल खड़े हो जाते हैं। इस क्रिया के परिणामस्वरूप रोंगटे खड़े होने की प्रतिक्रिया होती है।

इसी प्रकार इ0इ0जी, आलेखों द्वारा संवेग की अवस्था में मस्तिष्क तरंगों में भी परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे परिवर्तनों में मस्तिष्क विद्युतप्रवाह के चक्र एवं ऊँचाई में परिवर्तन देखे जाते हैं।

10) ग्रंथियों अथवा पिंडों की क्रियाओं में परिवर्तन- संवेग की अवस्था में शरीर के अन्दर विभिन्न प्रकार की ग्रथियों जैसे -एड्रिनल ग्रंथि, लारग्रंथि, अश्रुग्रंथि इत्यादि की प्रतिक्रियाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते है।

एड्रिनल ग्रंथि आमाशय में स्थित एक छोटी ग्रंथि है जिसका संबंध हमारे जीवन रक्षा-संबंधी कार्यों से है। संवेग की अवस्था में एड्रिनल ग्रंथि की क्रिया तेज हो जाती है जिससे लीवर उत्तेजित होकर चीनी अधिक मात्रा में छोड़ता है। अतः हवा लगने से रक्त शीघ्र जम जाता है और मांसपेशियों में थकावट देर से आती है। साथ ही, व्यक्ति में अधिक शक्ति का संचार होता है। यही कारण है कि किसी भयानक पशु को देखने पर हमें भय का संवेग होता है और हम उस अवस्था में बादहवास होकर बहुत अधिक तेजी से भागने में समर्थ होते हैं। संवेग की अवस्था में लाराग्रंथि , अश्रुग्रंथि तथा स्वेदग्रंथि की क्रियाओं में भी परिवर्तन होते हैं। अश्रुग्रंथि के उत्तेजित होने पर अश्रु का बाहव बढ़ जाता है, जैसे कि दुःख या विषाद की अवस्था में जब व्यक्ति रोता है, उस समय देखा जाता है।

13) अन्यन्य परिवर्तन- संवेग की अवस्था में उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के परिवर्तन भी होते हैं, मांसपेशियों में तनाव का बढ़ना, पलक मारना, आँखों को घुमाना आदि । मांसपेशियों में तनाव को एलेक्ट्रोमायोग्राफ नामक यंत्र से मापा जा सकता है।

14) इस प्रकार स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में अनेक प्रकार के बाह्य एवं आंतरिक शारीरिक परिवर्तन होते हैं, किन्तु यहाँ इन परिवर्तनों के संबंध में अग्रलिखित दो बातों का स्मरण रखना अनिवार्य है- क- प्रायः एक ही प्रकार के आंतरिक शारीरिक परिवर्तन विभिन्न संवेगों में पाए जाते हैं। ख- प्रत्येक संवेग में सदा एक ही तरह के परिवर्तन की श्रृंखला नहीं पाई जाती ।

15) अतएवं, हम केवल शारीरिक परिवर्तनों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये परिवर्तन किस प्रकार के संवेग की ओर इंगित करते हैं। अर्थात् किस संवेगात्मक अनुभव का संबंध किस प्रकार के शारीरिक परिवर्तन के साथ है- ऐसा कहना तब तक संभव नहीं है जब तक उस अनुभव को उत्पन्न करने वाली परिस्थिती का पूर्वज्ञान न हो।

9.5 संवेग के सिद्धान्त

संवेग के अनुभव और व्यवहार के बीच किस प्रकार का संबंध है, संवेग में मस्तिष्क का क्या महत्व है आदि मूलभूत समस्याओं के संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर, संवेग के विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा एक-एक कर के की गई है।

9.5.1 संवेग के सम्बन्ध में सामान्य विचार-

साधारणत: ऐसा माना जाता हैं कि संवेग में संवेगात्मक अनुभव की प्रधानता रहती है और संवेगात्मक व्यवहार संवेगात्मक अनुभव के बाद ही होता है। अतः सामान्य लोगों के विचार के अनुसार '' हमें जब किसी प्रकार की निराशा या क्षति होती है तब दुःख का अनुभव होता है और हम रोने की क्रिया करते है, जब किसी हिंसक पशु से सामना होता है तब असुरक्षा होता है और हम रोने की क्रिया करते हैं, जब किसी हिंसक पशु से सामना होता है तब असुरक्षा का अनुभव होता है और हम भागने की क्रिया करते हैं, अपने प्रतिद्वंद्वी द्वारा अनादर या तिरस्कृत किए जाने पर क्रोध का अनुभव होता है और तब हम उस पर प्रहार करने की क्रिया करते हैं''। इस प्रकार, संवेग के संबंध में साधारण विचार यही है कि किसी भी संवेगात्मक उत्तेजना या परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप में पहले संवेग की अनुभूति होती है और उसके बाद हम संवेगात्मक व्यवहार करते हैं।

9.5.2 जेम्स -लाँजे सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिकी मनोवैज्ञानिक जेम्स तथा डेनमार्क निवासी लॉजे ने किया। इन दानों ने संवेग के संबंध में अलग-अलग अध्ययन किया है, परन्तु इनके निष्कर्ष एक ही है, इसीलिए इनके विचारों को जेम्स-लॉजे सिद्धान्त के नाम से संबोधित किया जाता है। इनके विचार सामान्य विचार के विरुद्ध है। इनका कहना है कि संवेग में पहले संवेगात्मक व्यवहार होता है और तब उस व्यवहार की चेतन अनुभूति होती है। इस प्रकार संवेग के अनुभव का कारण संवेगात्मक व्यवहार है इस विचार के अनुसार किसी संवेगात्मक परिरिथति के प्रत्यक्षीकरण के तत्काल बाद संवेगात्मक व्यवहार होता है और उस व्यवहार के चेतन अनुभव को ही संवेग कहते हैं। उनके अनुसार जब हम किसी चीज को देखकर काँपने लगते हैं तथा भागते हैं तब भय का संवेग नहीं होगा। इसी तरह की बात क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या आदि संवेगों के साथ भी पाई जाती है। जेम्स ने अपनी पुस्तक ''प्रिंसपुल्स ऑफ साइकोलॉजी' में लिखा है, ''संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण और संवेग के अनुभव के बीच शारीरिक परिवर्तन होते हैं। अतः संवेग के संबंध में तार्किक रूप से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमें दुख या विषाद का संवेग रोनेकी क्रिया करने, क्रोध की उत्पत्ति आक्रामक व्यवहार करने तथा भय का संवेग काँपने जैसा

व्यवहार के फलस्वरूप होता है, न कि रोने, आक्रमण करने या काँपने की क्रिया क्रमशः विषाद, क्रोध एवं भय का अनुभव करने के फलस्वरूप होती है''।

जेम्स के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न संवेगों से संबद्ध विशिष्ट संवेगात्मक व्यवहार उस संवेग के फलस्वरूप नहीं होते, बल्कि संवेगों की उत्पत्ति संवेगात्मक व्यवहारों के उपरांत होती है। जेम्स ने अपने इस विचार के समर्थन में अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों के अंतर्निरीक्षण प्रविवेदन को प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि किसी फिल्म का अभिनेता या अभिनेत्री किसी खास तरह के संवेग से संबद्ध शारीरिक व्यवहार को करते या करती है और उस व्यवहार को करते-करते सचमुच उनमें संवेग का अनुभव होने लगता है। जैसे- क्रोध का अभिनय करते समय वे अपनी शारीरिक स्थिति, मुखाकृति-अभिव्यंजन आदि में परिवर्तन लाते हैं और ऐसा करने समय वे सचमुच क्रोध का अनुभव करने लगते हैं। जेम्स के विचारों से मिलता-जुलता कार्ल लाँजे का भी विचार है। इन दोनों में मख्य अन्तर केवल इतना ही है कि जेम्स ने संवेग की अवस्था में उपद्रव का स्थान अंतरावयवों एवं ग्रंथियों को माना है, जबकि लाँजे ने वाहिका गतितंत्र की क्रियाओं को। इसीलिए इन दोनो के विचारों का मनोवैज्ञानिकों ने एक ही सिद्धान्त के अंतर्गत रखा है।

जेम्स-लाँजे सिद्धान्त का शारीरिक आधार-

जेम्स तथा लाँजे के सिद्धान्त पर यदि हम गौर करें तो स्पष्ट होगा कि उनके अनुसार जैसे ही कोई संवेगात्मक परिस्थिति या उत्तेजना उपस्थित होती है, वैसे ही ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ज्ञानवाही स्नायुप्रवाह निकलकर वृहत मस्तिष्कीय बल्क में जाते हैं। उसके बाद प्राणी को उस परिस्थिति या उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होता है। उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होने के साथ-ही-साथ गतिवाही स्नायुप्रवाह अंतरावयवों, मांसपेशियों एवं ग्रंथियों में पहुँचते हैं और उनकी क्रियाओं में परिवर्तन लाते हैं। इसके फलस्वरूप प्राणी संवेगात्मक व्यवहार करता है। फिर, इन मांसपेशियों, ग्रंथियों या अंतरावयवों में स्थित ज्ञानेन्द्रियों (Sense organs) जिन्हें क्रमशः प्रोपरियोसेप्टर्स एवं इंटेरोसेप्टर्स कहते हैं- ज्ञानवाही प्रवाह निकलकर वृहत मस्तिष्कीय वल्क में पहुँचते हैं। फलतः प्राणी को उस परिस्थिति से संबंधित संवेग का अनुभव होता है।

स्पष्ट है कि जेम्स-लाँजे के सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभूति के पहले संवेगात्मक व्यवहार होता है,जिसका आधार स्वतः संचालित स्नायुमंडल होता है तथा संवेगात्मक व्यवहारर की चेतन अनुभूति ही संवेग है।

जेम्स-लाँज सिद्धान्त की समीक्षा-

यद्यपि संवेग की अवस्था में शारीरिक परिवर्तन की बात सत्य है, तथापि ऐसा कहना कि संवेग के पहले शारीरिक परिवर्तन होता है, पूर्णतः सत्य नहीं प्रतीत होता । इसी आधार पर जेम्स-लाँजे सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई है-

जेम्स तथा लांजे ने अपने सिद्धान्त के पक्ष में यह तर्क दिया है कि किसी संवेगात्मक परिस्थिति के उपस्थित होने पर प्राणी में होने वाले शारीरिक उपद्रवों को रोक देने पर संवेगात्मक अनुभव रूक जाते हैं। लेकिन, इस तर्क को वुण्ट ने यह कहकर खारिज किया है कि अनेक परिस्थितियों में संवेगात्मक अनुभवों को भी रोक देने से संवेगात्मक व्यवहार रूप जाते हैं। अतः, सवेगात्मक व्यवहार को संवेगात्मक अनुभव का कारण मानना उचित नहीं है|

1. कभी-कभी बिना संवेगात्मक व्यवहार का प्रदर्शन किए बिना ही हमें संवेगात्मक अनुभव होता है। जैसे-माता या पिता द्वारा बच्चे को डाँटते समय क्रोध या गुस्से का अनुभव तो होता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति व्यवहार के रूप में नहीं होती। इन परिस्थितियों में होने वाले संवेगात्मक अनुभव का कारण शारीरिक परिवर्तन मानना गलत होगा।
2. जेम्स तथा लांजे के अनुसार संवेगात्मक परिस्थिति और संवेगात्मक व्यवहार के बीच सहज क्रियारूपी संबंध पाया जाता है। यदि बात ऐसी होती तो सभी परिस्थितियों में इस प्रकार का संबंध पाया जाता। परन्तु वोरसेस्टर ने बताया है कि सभी परिस्थितियों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिए, जंगल में किसी नरभक्षी पशु को देखकर हम डर जाते हैं, जबकि सर्कस या चिड़ियाखाने में उसी पशु को,जो पिंजरे में रहता है, थपथपाने एवं उनके निकट होने की क्रियाएँ करते हैं। स्पष्ट है कि संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण मात्र से संवेगात्मक व्यवहार की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि दूसरी मानसिक प्रक्रियाएँ भी होती है, जो संवेगात्मक व्यवहार को निर्धारित करती है।
   i) अनेक विद्वानों ने कुछ ऐसे साक्ष्यों का हवाला दिया है, जिनसे जेम्स-लांजे के विचार खंडित हो जाते हैं। ऐसे कुछ साक्ष्य निम्नलिखित है-
   ii) 3. अनेक विद्वानों ने कुछ ऐसे साक्ष्यों का हवाला दिया है, जिनसे जेम्स-लांजे के विचार खंडित हो जाते हैं। ऐसे कुछ साक्ष्य निम्नलिखित है-
   iii) डॉ0 डन्ना ने एक महिला का उदाहरण दिया है जिसकी गर्दन के पास सुषुम्ना घोड़े से गिर जाने के कारण टूट गया था। फिर भी उसे सभी प्रकार के सवेगों का अनुभव होता था।
3. जेम्स तथा लांजे के सिद्धान्त को अनेक विद्वानों ने प्रयोगात्मक अध्ययनों द्वारा जाँचने की कोशिश की है तथा उनके विचारों के विरुद्ध प्रमाण जुटाए है। ऐसे अध्ययन कर्ताओं में शेररिंगटन, कैनन, मैरेनन, लिंडस्लेय लेकिस तथा ब्रिटन आदि के नाम उल्लेखनीय है।

शेरिंगटन तथा कैनन ने क्रमशः कुत्ते और बिल्ली पर प्रयोग कर देखा कि जब गर्दन के पास सुषुम्ना के कुछ स्नायुओं को इस प्रकार काट दिया गया, जिससे सहानुभूतिक स्नायुमंडल में उत्पन्न होने वाले स्नायुप्रवाह वृहत मस्तिष्कीय वल्क में नहीं जा सके। तब भी इन पशुओं की संवेगात्मक अनुभूति तथा व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं दिख पड़ा। अर्थात् उनमें पहले जैसे संवेगात्मक अनुभव एवं व्यवहार देखे गए।

परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन पशुओं के 'वेगस नर्व्स, जो उपसहानुभूति मंडल के क्रैनियल नर्व्स को मस्तिष्क में ले जाते हैं, में कोई क्षति नहीं पहुँची थी। इसके फलस्वरूप आंतरिक अवयवों के स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क में पहुँचते रहते हैं। अतः इस प्रयोग के आधार पर जेम्स -लांजे के सिद्धान्त को पूर्णतः गलत नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि संपूर्ण आंतरिक अवयवों और मस्तिष्क के बीच के संबंध को क्षतिग्रस्त कर दिए जाने पर भी प्राणी में संवेदगात्मक व्यवहार पाए जाते तो निःसंदेह जेम्स -लांजे के विरुद्ध जबरदस्त प्रमाण मिलता है।

मैरेनन ने एड्रीनिन की सूई देकर मानव प्राणियों का अध्ययन किया। एडीनिन की सूई देने पर प्राणी के अंतरावयवों की क्रियाओं में उपद्रव, अर्थात् परिवर्तन होता है। लेकिन, देखा गया कि इस सूई के प्रभाव से अंतरावयवों की क्रियाओं में परिवर्तन तो हुए परन्तु संवेगात्मक अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकी। ऐसा ही एक प्रयोग शैश्टर ने भी किया, लेकिन उनके प्रयोज्यों में भी एडीनीन संवेगात्मक अनुभव को उत्पन्न करने में विफल रहे।

किन्तु इस संबंध में जेम्स-लांजे का कहना है कि संवेग के कुछ अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशी-संबंधी ऐसे पहलू है, जो व्यक्ति में एडीनीन की सूई देने से उत्पन्न नहीं होने, लेकिन वे संवेग को उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि एडीनीन की सुई पर भी प्राणी में संवेगात्मक अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। साथ ही इस अवस्था में सिकी संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण भी नहीं होता। जेम्स-लांजे के अनुसार, संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होने के बाद शरीरिक परिवर्तन होने पर ही संवेग की अनुभूति होगी। अतः एडीनीन की सूई के आधार पर जेम्स-लांजे सिद्धान्त की जो आलोचना की गई है, उसे पूर्णतया सही नहीं माना जा सकता शरीरशात्रियों के अनुसार, अंतरावयव अपेक्षाकृत असंवेदनशील एवं धीमी गति से प्रतिक्रिया करती है। संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के तुरंत बाद ही (एक सेकेंड से भी कम समय में) हो सकती है, जबकि अंतरावयों की क्रिया कुछ समय बाद (एक सेकेंड की अवधि के बाद) ही होती है, न कि संवेगात्मक अनुभूति संवेगात्मक व्यवहार के पहले ही हो जाती है। न कि संवेगात्मक व्यवहार के बाद। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक व्यवहार का कारण होता है। दरअसल कुछ संवेगात्मक अनुभूतियाँ ऐसी भी होती है जिनमें शारीरिक परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते।

9.5.3 कैनन -बार्ड सिद्धान्त-

कैनन तथा बार्ड ने जेम्स-लांजे सिद्धान्त को गलत बताया तथा अपने अध्ययनों के आधान पर एक अलग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके सिद्धान्त को हाइपोथैलमिक सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है कैनन तथा वार्ड का कहना है कि संवेगात्मक व्यवहार को संवेगात्मक अनुभूति का कारण मानन गलत है। साथ ही, जैसा कि जेम्स और लांजे ने माना है संवेग में केवल स्वतःसंचालित स्नायुमंडल में सहानुभूतक मंडल और वृहत मस्तिष्क का ही प्रमुख स्थान नहीं है, बल्कि हाइपोथैलेमस का सर्वाधिक महत्व है। उनके अनुसार हाइपोथैलेमस ही संवेग का नियत्रंण करता है इसलिए इसे हाइपोथैल सिद्धान्त की संज्ञा दी जाती हैं।

केनन तथा वार्ड के अनुसार संवेग की क्रिया का क्रम इस प्रकार है- सबसे पहले संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसके फलस्वरूप हाइपोथैलेमय उत्तेजित होता है। इसके बाद हाइपोथैलेमस से स्नायुप्रवाह निकलकर एक ही समय में वृहत मस्तिष्क वल्क तथा अंतरावयव एवं मांसपेशियों में जाता है। फलस्वरूप एक ही समय प्राणी में संवेगात्मक अनुभूति और संवेगात्मक व्यवहार दोनों होते हैं। ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह वृहत मस्तिष्क में जाते समय जब हाइपोथैलेमस से गुजरता है तब एक निश्चित और विशेष प्रकार के अर्जित तथा अनर्जित हाइपोथैलेमस से गुजरता है तब एक निश्चित और विशेष प्रकार के अर्जित तथा अनर्जित हाईपोथैलेमस स्राव उत्पन्न करता है। हाईपोर्थलेमास में उत्पन्न होने वाले ये स्नायु-प्रवाह तब तक एक ही समय वृहत मस्तिष्क तथा अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशियों में जाते हैं । वृहत मतिस्तष्क में हाइपोथैलेमस तक का मार्ग है, जहाँ के स्नायु-प्रवाह हाइपोथैलेमस के स्राव को रोकते हैं अथवा उसे नियंत्रित करते हैं।

हाइपोथैलेमिक सिद्धान्त के वर्णन से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार हाइपोथैलेमस से निकलकर स्नायु-प्रवाह एक ही समय वृहत मस्तिष्क तथा अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशियों में है। इस प्रकार , जेम्स-लांजे सिद्धान्त के विरुद्ध आरोपित आलोचाएँ इस सिद्धान्त पर लागू नहीं होती। उदाहरण के लिए, अंतरावयव और वृहत मस्तिष्कीय वल्क के बीच संबंध स्थापित करने वाली सहानुभूति स्नायु को काट दिया गया तब भी कुत्ते और बिल्ली में संवेगात्मक अनुभव उत्पन्न हुआ। इस तथ्य की व्याख्या करने में जेम्स-लांजे का सिद्धान्त सफल नहीं है। पर, हाइपोथैलेमस में उत्पन्न स्नायु-प्रवाह एक ही साथ अंतरावयव, धारीदार मांसपेशियों एवं वृहत मस्तिष्कीय वल्क की ओर संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही जाते हैं। हाइपोथैलेमस सिद्धान्त के अनुसार अंतरापयव और वृहत मस्तिष्क का संबंध विक्छेद हो जाने पर भी हाइपोथैलेमस और मस्तिष्क का संबंध बना रहता है। यही कारण है कि कुत्ते और बिल्ली में सहानुभूतिक स्नायु के काटे जाने के बावजूद संवेगात्मक अनुभव

और व्यवहार दोनो देखा गया। यही बात घोड़े से गिरी हुई महिला, जिसकी मेंरूदंड रज्जु या सुषुम्ना गर्दन के पास टूट गई थी, में उत्पन्न संवेग की व्याख्या हेतु भी लागू होती है।

जेम्स-लांजे सिद्धान्त की आलोचना के क्रम से यह भी कहा गया है कि अंतरावयव आदि के क्रियाशील होने में अपेक्षाकृत थोड़ा समय अधिक लगता है, फिर भी संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होते ही संवेगात्मक अनुभव तत्काल होता है। यदि अंतरावयव के क्रियाशील होने के उपरांत परिस्थिति के अवगमन के कुछ समय बाद होना चाहिए, पर ऐसा होता क्यों नहीं है? इसकी व्याख्या जेम्स-लॉजे सिद्धान्त द्वारा नहीं हो पाती।

हाइपोथैलेमस सिद्धान्त संवेग की उत्पत्ति में अंतरावयव के महत्व को गैण मानता है। यह सिद्धान्त बताता है कि चूँकि संवेग की उत्पत्ति में हाइपोथैलेमस का ही सार्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है और हाइपोथैलेमस के स्नायु प्रवाह को मस्तिष्क में पहुँचने में कुछ भी समय नहीं लगता, इसीलिए संवेगात्मक अनुभव अविलम्ब हो जाता है।

9.5.3.1 कैनन-बार्ड सिद्धान्त का मूल्यांकन-

यह सही है कि कैनन-बार्ड का हाइपोथैलेमस सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त की अनेक आलोचनाओं को दूर करने में सफल है, फिर भी यह सिद्धान्त बिलकुल दोषरहित है, ऐसी बात नहीं है। इस सिद्धान्त में भी कुछ त्रटियाँ हैं। जो निम्नलिखित हैं-

यह सिद्धान्त संवेग की उत्पत्ति में हाइपोथैलेमस का ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान मानता है, जो सही नहीं है वास्तविकता तो यह है कि हाइपोथैलेमस के अतिरिक्त स्नायुमंडल के अन्य भागों का भी संवेग में महत्वपूर्ण स्थान है। इस बात की पुष्टि इससे जो जाती है कि हाइपोथैलमस को उत्तेजित करने के फलस्वरूप प्राणी में जो संवेगात्मक व्यवहार उत्पन्न होते हैं, वे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार से निम्नलिखित रूप से भिन्न होते हैं-

कृत्रिम रूप से हाइपोथैलेमा को उत्तेजित करने के फलस्वरूप उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार की अपेक्षा क्षणिक होते हैं, अधिक दृढ़ होते हैं, अभियोजन की क्षमता के कम तथा अधिक नियंत्रित होते है और किसी परिस्थिति विशेष की ओर कम उन्तुख होते हैं।

उपर्युक्त अंतरों के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार के नियम एवं नियतत्रण में स्नायुमंडल के अन्य भाग भी महत्वपूर्ण रूप से क्रियाशील होते है, जबकि कृत्रिम रूप से हाइपोथैलेमस के उत्तेजित होने के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवहार के नियम एवं नियंत्रण में

स्नायुमंडल के अन्य भाग कार्यशील नहीं रहते । इसीलिए इन दोनो परिस्थितियों में उत्पन्न व्यवहारों में अंतर देखा जाता है। खासकर जहाँ तक अभियोजन क्षमता का प्रश्न है, बृहतमस्तिष्कीय वल्क एक विशेष महत्व रखता है।

1) कैनन तथा वार्ड ने अपने सिद्धान्त में संवेग की उत्पत्ति का मुख्य स्थल हाइपोथैलेमस को माना है। लेकिन लैश्ले, लिंडस्ले, आर्नोल्ड आदि विद्वानों के अध्ययनों से इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के सभी प्रतिरूपों एवं अनेंकों प्रकार के संवेगात्मक अनुभवों को उत्पन्न करने में हाइपोथैलेमस सक्षम है। साथ ही, संवेगों से उत्पन्न तनाव को देर तक बनाए रखने में हाइपोथैलेमस समर्थ नहीं है।

इस सिद्धान्त पर आरोपित उपर्युक्त त्रुटियों के कारण कैनन-बार्ड के सिद्धान्त को भी संवेग का एक स्पष्ट सिद्धान्त नहीं माना जा सकता ।

9.5.4 क्रियाशील सिद्धान्त -

क्रियाशीलता सिद्धान्त का प्रतिपादन लिंडस्ले ने किया। इसे संवेग का उत्प्रेरण सिद्धान्त भी कहते हैं।

संवेग के क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से यह अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि संवेग के उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तों में कोई सिद्धान्त पूर्णतः सही नहीं है। यद्यपि , कैनन-बार्ड सिद्धान्त के सामान्य प्रारूप या ढाँचा पर मनोवैज्ञानिक सहमत हैं, फिर भी इस क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों से स्पष्ट हो चुका है कि इस सिद्धान्त में भी संशोधन की आवश्यकता है। इन अनुसंधानों से एक बात बिलकुल स्पष्ट हुई कि संवेगात्मक और असंवेगात्मक अवस्थाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। शारीरिक सक्रियता के दृष्टिकोण से प्राणी की अति शिथिलता की अवस्था से अति सक्रियावस्था के बीच की विभिन्न अवस्थाओं को क्रमवार श्रृंखता के रूप में यदि सजाया जाए तो उसके एक छोर पर निद्रावस्था और दूसरे छोर पर तीव्र एवं उग्र संवेगात्मक को रखा जा सकता है। इस प्रकार, संवेग का केन्द्रीय विस्तार निद्रावस्था से उत्तेजनावस्था तक है और इसके बीच के विभिन्न बिंदुओं पर शक्ति-गतिशीलनकी मात्राओं में अंतर होता है। इस संबंध में विद्युत मस्तिष्कीय आलेख से स्पष्ट प्रामाण मिलते हैं। ऐसे ही प्रमाणों के आलोक में लिंडस्ले ने 1951 ई0 में संवेग का उत्प्रेरणा सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

लिंडस्ले के अनुसार संवेग स्नायुमंडल और खासकर वृहत मस्तिष्कीय वल्क की अत्यधिक सक्रियावस्था का सूचक हैं। यहाँ अत्यधिक सक्रियावस्था से तात्पर्य स्नायविक प्रवाहों के स्राव में वृद्धि से है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि संवेग की अवस्था में मस्तिष्क-वृन्त में स्थित रेटिकुलर फॉर्मेशन विशेष रूप से बृहतमस्तिष्कीय वल्क को क्रिय बनाता है अथवा उत्तेजित या उत्प्रेरित करता है।

लिंडस्ले ने अपने विचारों को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहा है कि मांसपेशियों द्वारा फीडबैक के रूप में प्राप्त ज्ञानवाही प्रवाह केन्द्रीय स्नायुमंडल को और अधिक सक्रिय या उत्प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए, जब प्राणी घोर नींद की अवस्था में रहता है तब उस समय उसकी सक्रियता का स्तर सबसे न्यूनतम रहता है। बृहतमस्तिष्कीय वल्क अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है और सहानुभूति स्नायुमंडल से स्राव बहुत ही कम होता है। फलतः मांसपेशियाँ शिथिल रहती है, जिससे वल्क को कोई फीडबैक नहीं मिलता। लेकिन, जैसे ही कोई उत्तेजना, जैसे- घड़ी का एलार्म प्राणी को जागृत करता है, स्नायुमंडल धीरे-धीरे सक्रिय होने लगता है, और जब प्राणी जग जाता है तथा अपने दैनिक क्रियाकलापों को करने लगता है, उसकी मांसपेशियाँ, ग्रंथियाँ अथवा अन्यन्य कर्मेन्द्रियाँ निरंतर गतिशील रहती है जिससे स्नायुमंडल की सक्रियता बढ़ने लगती है। इस कार्यशीलता के क्रम में जब प्राणी की कोई प्रेरणा संतुष्ट नहीं हो पाती अथवा प्रेरणाओं की संतुष्टि बाधित होती है तब वह निराश होता है जिसके फलस्वरूप सहानुभूतिक स्नायुमंडल से अधिक मात्रा में प्रवाह का स्राव होने लगता है और एडे[a]नलीन का स्राव होने लगता है। इस प्रकार की स्थिति में हाइपोथैलेमस इन क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करने हेतु अत्यधिक कार्यशील होकर प्रवाह के स्राव को बढाता है। फलतः बृहत मस्तिष्कीय बल्क और अधिक सक्रिय हो जाता है। प्राणी की इसी अवस्था को संवेग कहते हैं। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि संवेग वस्तुतः उच्चस्तरीय कार्यशीलता या उत्प्रेरण की अवस्था को कहते हैं। इस सिद्धान्त में संवेग और प्रेरणा के बीच घनिष्ठ संबंध बताया गया है। यह सिद्धान्त बताता है कि संवेग की ही तरह प्रेरणा की उत्पत्ति भी उत्प्रेरण स्तर के अनुसार की होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग और प्रेरणा के बीच स्पष्ट भेद बताना मुश्किल है । प्रेरणा और संवेग के अनुभवों के बीच हम रीति-रिवाज या प्रथा के आधार पर भेद करते हैं। हम अपने सामाजिक जीवन में कुछ खास स्तर की सक्रियता तथा उससे संबद्ध भावात्मक अनुभवों को क्रोध, भय, भूख, काम या यौन आदि शब्दों के द्वारा प्रकट करना सीख लेते हैं तथा उसी के अनुरूप उनका नामकरण करते हैं।

क्रियाशीलता सिद्धान्त का मूल्यांकन-

कुछ विद्वानों का विचार है कि संवेग का उत्प्रेरण सिद्धान्त सही अर्थ में संवेग का एक अपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि, उत्प्रेरण या सक्रियता-संबंधी विचारों से संवेग की अवस्था में मस्तिष्क में होने वाल क्रियाओं के बहुत ही थोड़े अंश का परिचय मिलता है। लेकिन, जैसे कि संवेग के स्वरूप से स्पष्ट है, संवेग में प्राणी संपूर्ण रूप से कार्यशील होता है। अतः मस्तिष्क का एक भाग अंतरावयवी मस्तिष्क कहलाता है, जिसका मुख्य कार्य बौद्धिक चयन एवं तर्कशीलता के साथ-साथ आंतरिक अवयवों से प्राप्त ज्ञानवाही प्रवाहों के भावों को समझना भी होता है। अतः स्वष्ट है कि संवेग में बृहतमस्तिष्क के अन्य भाग भी सक्रिय रहते हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

कुछ विद्वानों ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि शारीरिक सक्रियता अथवा उत्प्रेरण एक अन्यंत विस्तुत एवं बिखरी हुई अस्वथा है, जो सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि उत्प्रेरण पर भरोसा करने के फलस्वरूप संवेग, प्रेरणा, प्रत्यक्षीकरण आदि मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में अतंर स्पष्ट नहीं होता।

उत्प्रेरण सिद्धान्त केवल संवेग व्यवहार पक्ष की व्याख्या करने में समर्थ है। लेकिन, संवेग का अनुभव पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं, जिसकी सफल व्याख्या करने में यह सिद्धान्त कुशल नहीं है। उदाहरणस्वरूप, यदि संवेग का व्यवहार पक्ष ही महत्वपूर्ण होता तो कुछ औषधियों द्वारा उत्पन्न सक्रियाता या उत्प्रेरणा की अवस्था में भी संवेग का अनुभव होता। परन्तु ऐसी बात (कुछ खास प्रकार की औषधियों का छोड़कर) नहीं पाई जाती। ऐसा इसलिए होता है कि संवेग का ज्ञानात्मक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है जिसकी कुशल व्याख्या उत्प्रेरण सिद्धान्त से नहीं हो पाती। इस सिद्धान्त के इसी दोष को ध्यान में रखते हुए शैश्टर एवं सिंगर ने 1962 ई0 में संवेग का एक नया सिद्धान्त-'ज्ञानात्मक सिद्धान्त' प्रतिपादित किया।

9.6 सारांश

- संवेग एक भावात्मक प्रक्रिया है जिसका अर्थ प्राणी के उस अवस्था विशेष से है जिसमें प्राणी उत्तेजित होकर जोशपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करता है।
- सवेंग की अवस्था में तीन क्रिया सम्पन्न होती है-
    1. चेतन अनुभूति सम्बन्धी क्रियाएँ
    2. व्यवहार सम्बन्धी क्रियाएँ तथा
    3. अंतरावयव सम्बन्धी क्रियाएँ
- • संवेग में बाह्य एवं आन्तरिक अंगां में परिवर्तन होते हैं। बाह्य अंगों में होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित हैं- मुखाकृतिक अभिव्यंजन, स्वरामिव्यंजन, शारीरिक स्थितियां, आन्तरिक अंगों में होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित हैं- संसगति में परिवर्तन, हृदय गति में परिवर्तन, नाड़ी की गति में परिवर्तन, रक्त संबंधी परिवर्तन, रसपाक एवं पाचनक्रिया में परिवर्तन, त्वक्-प्रतिक्रियाओं तथा मानस तरंगों में परिवर्तन, ग्रंथियों अथवा पिंडों की क्रियाओं में परिवर्तन, अन्यन्य परिवर्तन।

• संवेग के अनुभव और व्यवहार के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करने हेतु संवेग में मस्तिष्क का महत्व प्रतिपादित करने हेतु मनोवैज्ञानिकों द्वारा कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। इनमे से कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त है- जेम्स-लांजे, सिद्धान्त कैनन बार्ड सिद्धान्त तथा क्रियाशीलता सिद्धान्त।

9.7 शब्दावली

- **संवेग**: संवेग प्राणी के अन्दर एक संक्षोम की अवस्था है जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा जिसमें व्यवहार, चेतन अनुभव और अन्तरावयवों की क्रियाएँ सम्मिलित रहती है।
- **भाव**: भाव एक सरल एवं प्राथमिक भावात्मक मानसिक क्रिया है जो हमेशा आत्मगत होता है।
- **संवेगात्मक अनुभव**: संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न चेतना अनुभव को संवेगात्मक अनुभव कहते हैं।
- **संवेगात्मक व्यवहार**: संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण या संवेगात्मक अनुभूति के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न तरह की शारीरिक क्रियाओं को संवेगात्मक व्यवहार कहते हैं।

9.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) .....प्राणी की आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है जबकि..... बाह्य उत्तेजनाओं के प्रति की जाने वाली ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया से प्रारम्भ होता है।

2) संवेग ..... सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक व्यवहार का प्रतिफल है।

3) संवेग के दौरान पाचन-क्रिया में होने वाला परिवर्तन एक..... परिवर्तन है।

उत्तर: 1) अभिप्रेरणा, संवेग 2) जेम्स-लांजे 3) आन्तरिक

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान - अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बानारसी दास?
- शारीरिक मनोविज्ञान - ओझा एवं भार्गव- हर प्रसाद भार्गव, आगरा।
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना।
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संवेग को परिभाषित करें। इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. भाव और संवेग में अन्तर स्वष्ट करें। संवेग में होने वाले आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन करें।
3. संवेग के जेम्सलांजे सिद्धान्त का मूल्यांकन करें।-
4. संवेग में हाइपोथैलेमस की भूमिका का उल्लेख करें।
5. टिप्पणी लिखें-
   - क. प्रेरणा एवं संवेग में अन्तर
   - ख. संवेग में बाह्य शारीरिक परिवर्तन
   - ग. संवेग का क्रियाशीलन सिद्धान्त